के रूप में दिखाई देता है। परन्तु वह अलात जिस समय उस घेरे के जिस एक कोण पर है, उसी समय अन्य किसी कोण पर नहीं है; परन्तु अलात के तेज़ी से घुमाये जाने के कारण [आशुसञ्चारात्] उसके व्यवच्छेद [अनुपस्थिति के अवकाश] को दृष्टि से पकड़ा नहीं जाता। यद्यपि प्रत्येक कोण पर अलात ठीक क्रम के अनुसार आता है। इसीप्रकार आशुसञ्चारी मन विभिन्न इन्द्रियों के साथ क्रमपूर्वक सम्बद्ध होकर ही उस विषय के ग्रहण में साधन बनता है। ये ग्रहण [ज्ञान] बराबर क्रमपूर्वक होते हैं; परन्तु मनःसञ्चार की तीव्रता के कारण उस क्रमको पकड़ने में व्यक्ति अक्षम रहता है, और यह समझता है कि यह सब एकसाथ होरहा है। एकसाथ होने की प्रतीति केवल भ्रम है।

आशङ्का कीजासकती है कि क्रम का ग्रहण न होने से क्रियाओं का युगपत् होना प्रतीत होता है; इसमें प्रमाण क्या है? ऐसा क्यों न मानाजाय कि वे समस्त क्रियामूलक ज्ञान वस्तुतः युगपत् होरहे हैं?

ज्ञान व क्रियाओं के युगपत् न होने में प्रमाण का उल्लेख प्रथम करदिया-गया है। विभिन्न इन्द्रियों द्वारा उनके ग्राह्य विषय क्रम से गृहीत होते हैं, युगपत् नहीं होते; यह ज्ञानायौगपद्य हेतु अबाधित है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभव से इसे जानता है। इसी आधार पर मन का एकत्व सिद्ध कियागया है। मन के एक होनेसे एक क्षण में अनेक क्रियाओं का होना सम्भव नहीं। इससे निश्चित होता है—अनेक क्रियाओं के युगपत् होने की प्रतीति—क्रम का ग्रहण न होने के कारण—भ्रान्त है। इस तथ्य को दृष्टान्त के आधार पर इसप्रकार समझना चाहिये—

जब व्यक्ति अपने देखे या सुने अर्थों के विषय में चिन्तन करता है, तब स्मृतिरूप ज्ञान निरन्तर क्रमपूर्वक उसके अन्तरात्मा में उभरते रहते हैं, इनमें यौगपद्य किसी अंश में नहीं देखाजाता। इससे अन्य अवस्थाओं में भी ज्ञान का क्रमपूर्वक होना अनुमान कियाजासकता है। क्रम के अग्रहण का अन्य उदाहरण प्रस्तुत कियाजाता है—

एक व्यक्ति अन्य व्यक्ति को किसी अर्थ का बोध कराने के लिए ज्ञान-पूर्वक एक वाक्य का उच्चारण करता है। वहाँ वर्ण, पद, वाक्य और उनका ज्ञान, तथा उनके अर्थों का ज्ञान होने में क्रम का ग्रहण नहीं होपाता। कहना, सुनना, समझना सब युगपत् होगया,—ऐसा प्रतीत होता है; यद्यपि प्रत्येक वर्ण का उच्चारण क्रमपूर्वक है, एक वर्ण के उच्चारणकाल में अन्य वर्ण का उच्चारण असम्भव है। प्रत्येक पद में एक-एक वर्ण का ज्ञान और प्रत्येक वाक्य में अनेक पदों का ज्ञान क्रमपूर्वक होता है। क्रमिक उच्चारण के समान उनका श्रवण क्रम-पूर्वक होता है। वर्णों से पद का और पदों से वाक्य का प्रतिसन्धान होता है, अनन्तर पदार्थ के स्मरण से वाक्यार्थ-बोध होता है। यह सब कार्य क्रमपूर्वक

होता है, परन्तु उन ज्ञानों का व्यापार अति शीघ्र होजाने से उनके क्रम का ग्रहण नहीं होपाता। यह स्थिति अन्यत्र भी ज्ञान व क्रियाओं के युगपत् न होने का अनुमान कराती है। वस्तुतः क्रम का ग्रहण न होने से इनके युगपत् होने का भ्रम होजाता है। ज्ञानों का युगपत् होना कहीं सन्देहरहित नहीं है, जिससे एक शरीर में अनेक मन होने का अनुमान कियाजासके ॥ ६० ॥

मन अणु है—आचार्य सूत्रकार ने उक्त हेतु के आधार पर मन के एक अन्य धर्म का निर्देश किया—

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥ ६१ ॥ (३३०)

[यथोक्तहेतुत्वात्] जैसा कहागया है हेतु, उसके होने से [च] तथा [अणु] अणु-परिमाण है, मन।

ज्ञानों के युगपत् न होने से मन अणु-परिमाण है। यदि मन को अणु-परिमाण न मानाजाय, तो एक समय में अनेक इन्द्रियों के साथ मन का संयोग होने से अनेक ज्ञानों का युगपत् होना प्राप्त होगा, जो सम्भव नहीं है। इसलिये मन को विभु न मानकर अणु मानाजाता है। मध्यम-परिमाणवाला प्रत्येक द्रव्य सावयव तथा अनित्य होता है। मन नित्य एवं निरवयव है, अतः उसे मध्यम परिमाण नहीं कहाजासकता। अनित्य मानने पर उसके कारणों की कल्पना करनी होगी; जो सम्भव नहीं। अतः मन नित्य व अणु है ॥ ६१ ॥

शरीर की रचना पूर्व-कर्मानुसार—प्राणी के शरीर की रचना, वहाँ भी मानव-शरीर की रचना बड़ी अद्‌भुत है। इसकी रचना में प्राणी के धर्म-अधर्म-रूप अदृष्ट का सहयोग पूर्णरूप में रहता है। लोक में निर्बाधरूप से यह देखा-जाता है कि समस्त इन्द्रियों के सहित मन का सब व्यापार शरीर के आधार से होता है, अन्यत्र नहीं। ज्ञाता चेतन-आत्मा के सबप्रकार के ज्ञान और समस्त उपभोग, किसी का त्यागना व पाना आदि सब व्यवहार शरीर के भरोसे पर होपाते हैं। इस विषय में एक-दूसरे के विपरीत विचारों को जानकर संशय होजाता है कि क्या शरीर की रचना आत्मा के पूर्वकृत कर्मों के कारण होती है, अथवा कर्म-निमित्तता की उपेक्षा करके, अर्थात् कर्म-सहयोग के विना केवल पृथिवी आदि भूतों के संयोग से होजाती है? क्योंकि सुनाजाता है—कोई आचार्य शरीर-रचना को कर्म-निमित्तक मानते हैं; तथा अन्य आचार्य विना कर्म-निमित्त के भूतमात्र से इसकी रचना बताते हैं। आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में यथार्थ तत्त्व का निर्देश किया—

पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥ ६२ ॥ (३३१)

[पूर्वकृतफलानुबन्धात्] पहले किये कर्मों के फलरूप (आत्मनिष्ठ) अदृष्ट (धर्म-अधर्म) के सम्बन्ध से—सहयोग से [तद्-उत्पत्तिः] उसकी (शरीर की) उत्पत्ति-रचना होती है।

पहले जन्मों के काल में जो वाणी, बुद्धि और शरीर के द्वारा आत्मा ने शुभ-अशुभ कर्मों का अनुष्ठान किया, उन कर्मों के फलस्वरूप धर्म-अधर्म (अदृष्ट) एवं संस्कार आत्मा में निहित रहते हैं। भूतों से शरीर की उत्पत्ति में आत्म-समवेत वे धर्म-अधर्म सहयोगी रहते हैं। जहाँ शरीर के उपादान समवायि-कारण भूत-तत्त्व हैं, वहाँ शरीर को प्राप्त करनेवाले आत्मा के पूर्वकृत धर्म-अधर्म शरीर के निमित्त कारण हैं। अदृष्टनिरपेक्ष स्वतन्त्र भूतों से शरीर की उत्पत्ति नहीं होती।

जिसमें अधिष्ठित आत्मा यह 'मैं हूँ' ऐसा समझता, व अभिमान करता है, जिसको अपना रूप मानता हुआ उसकी चोट-फेंट, रोग, व्रण आदि को स्वयं में अभिनिवेशित करता है, जहाँ उपभोग की लालसा से विषयों को उपलब्ध करता हुआ धर्म और अधर्म का सञ्चय कियाकरता है, वह इस आत्मा का शरीर है। एक शरीर के निमित्त धर्म-अधर्म जब भोग आदि के द्वारा समाप्त होजाते हैं, तब वह शरीर पूरा होजाता है, नष्ट होजाता है; उसके अनन्तर अन्य सञ्चित अदृष्ट से किन्हीं सीमित धर्म-अधर्म के अनुसार आत्मा को अन्य शरीर प्राप्त होजाता है। इस शरीर के प्राप्त होने पर पहले शरीर के समान आत्मा इसमें अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए वाणी, बुद्धि एवं शरीर द्वारा कियेजानेवाले अनुष्ठानों में निरन्तर प्रवृत्त रहाकरता है। जीवन की यह सब प्रक्रिया—भूतों से शरीर की उत्पत्ति में—आत्मगत धर्म-अधर्म का सहयोग मानने पर सम्भव होती है।

लोकव्यवहार में यह स्पष्ट देखाजाता है पुरुष के प्रयोजन-जलाहरण, देहाच्छादन, सुगमयात्रा—आदि को सम्पन्न करने में समर्थ घट-पट-रथ आदि द्रव्यों का उत्पादन—पुरुष के विशेषगुण प्रयत्न का सहयोग होने पर—भूतों से होपाता है। स्वतन्त्र भूत घट, पट, रथ आदि का निर्माण नहीं कर सकते, न वे इस रूप में स्वयं परिणत होते हैं। इसीप्रकार शरीररचना के विषय में अनुमान करलेना चाहिये। भूतों का विकार यह शरीर आत्मा के धर्म-अधर्मरूप विभिन्न गुणों के सहयोग विना नहीं होपाता, जिसमें अधिष्ठित हुआ आत्मा समस्त जीवनकाल में अपने प्रयोजनों की सिद्धि के लिए प्रवृत्त रहता है॥ ६२॥

शरीररचना कर्मनिमित्तक नहीं—आत्मा एवं आत्मगत गुणों की अपेक्षा न रखते हुए अन्य भूत-तत्त्वों की रचना के समान, शरीर की रचना कर्मनिरपेक्ष मानलेनी चाहिये; शिष्य की ऐसी आशङ्का को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

भूतेभ्यो मूर्त्त्युपादानवत् तदुपादानम्॥ ६३॥ (३३२)

[भूतेभ्यः] भूतों से (कर्मों की अपेक्षा के विना) [मूर्त्त्युपादानवत्] मूर्त्तियों—पृथिवी आदि द्रव्यों के उपादान—आत्मलाभ के समान [तद्-उपादानम्] शरीर का उपादान-उत्पाद होजाता है (केवल भूतों से)।

पृथिवी आदि भूत-भौतिक लोक तथा पृथिवी में रेत, कंकड़ी, पत्थर, गेरू, अञ्जन आदि विविध मूर्त्त द्रव्य जैसे कर्मनिरपेक्ष स्वतन्त्र भूतों से उत्पन्न होते हैं, तथा पुरुष के प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए इनका उपयोग कियाजाता है; ऐसे कर्मनिरपेक्ष भूतों से--पुरुष के प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाले--शरीर का उत्पन्न होना मानाजासकता है। इस मान्यता में भूतों से अतिरिक्त किसी आत्मा आदि चेतनतत्त्व को मानने की अपेक्षा नहीं रहती ।। ६३ ।।

'मूर्त्त्युपादान' दृष्टान्त साध्यसम---आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में बताया---

न साध्यसमत्वात् ।। ६४ ।। (३३३)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [साध्यसमत्वात्] साध्य के समान होने से।

प्रमाण से सिद्ध कोई हेतु या उदाहरण, किसी अन्य साध्य अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ होता है। जो अर्थ अभी सिद्ध न होकर स्वयं साध्य है, वह अन्य अर्थ को सिद्ध नहीं करसकता। गत सूत्र में प्रस्तुत 'मूर्त्त्युपादान' दृष्टान्त अभी स्वयं साध्य है। तात्पर्य है- पृथिवी आदि लोकलोकान्तर, एवं पृथिवी में विविध पदार्थों की रचना किसी चेतन की प्रेरणा के बिना एवं कर्मों की अपेक्षा के बिना होजाती है, यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। अतः इसके आधार पर कोई निर्णय नहीं लियाजासकता; यह दृष्टान्त साध्यसम है ।। ६४ ।।

शरीर-रचना कर्म-सापेक्ष---आचार्य सूत्रकार ने उक्त कथन में अन्य दोष प्रस्तुत किया---

न उत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ।। ६५ ।। (३३४)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [उत्पत्तिनिमित्तत्वात्] उत्पत्ति का निमित्त होने से [मातापित्रोः] माता-पिता के, (पुत्र-शरीर की रचना में)।

पृथिवी-पाषाण, गैरिक आदि विविध भूत--भौतिक पदार्थों की रचना निर्बीज होती है; परन्तु शरीर की रचना रजवीर्य-निमित्तपूर्वक होती है। अतः शरीर की उत्पत्ति में 'मूर्त्त्युपादान' दृष्टान्त विषम है। तात्पर्य है--पाषाण आदि की उत्पत्ति जैसे केवल भूतों से होना सम्भव है, वैसे शरीर की उत्पत्ति सम्भव नहीं; क्योंकि जैसे शरीर की उत्पत्ति में माता-पिता का रज-वीर्य निमित्त होता है, वैसे पाषाण आदि की उत्पत्ति में नहीं है। अन्यथा पाषाण आदि के समान शरीर शुक्र-शोणित के बिना उत्पन्न होजाना चाहिये। अतः पाषाण आदि तथा शरीर की उत्पत्ति में समता न होने से यह विपरीत दृष्टान्त है।

सूत्र में 'मातृ-पितृ' पद शोणित व शुक्र का बोध कराते हैं। आत्मा अपने धर्म-अधर्म के अनुसार जब मातृ-गर्भ में आता है, तब वह कर्मानुसार गर्भवास की कष्टमय स्थिति का अनुभव करता है। माता-पिता अपने कर्मों के अनुसार

पुत्रफल-प्राप्ति का अनुभव करते हैं। यह स्थिति स्पष्ट करती है-माता के गर्भाशय में आश्रय पाकर भूतों से शरीरोत्पत्ति के प्रयोजक होते हैं-कर्म। शरीर-रचना के साथ कर्मों का सम्बन्ध स्पष्ट है। इससे पाषाण आदि द्रव्य तथा शरीर की उत्पत्ति का भेद ज्ञात होजाता है शरीर में बीज की अनुकूलता है, पाषाण आदि में नहीं। अतः उक्त दृष्टान्त कर्मनिरपेक्ष शरीररचना का साधक नहीं होसकता ॥ ६५ ॥

शरीर-रचना का क्रम—शरीर की रचना में आचार्य सूत्रकार शुक्र-शोणित के अतिरिक्त अन्य कारण बताता है, जो पाषाणादि की उत्पत्ति में सम्भव नहीं। आचार्य ने बताया—

तथाऽऽहारस्य ॥ ६६ ॥ (३३५)

[तथा] उसी प्रकार [आहारस्य] आहार के (माता द्वारा कियेगये, शरीरोत्पत्ति का निमित्त होने से)।

मातृ-आहार देहरचना में हेतु—गत सूत्र से 'उत्पत्तिनिमित्तत्वात्' हेतुपद यहाँ अनुवृत्त होता है। जैसे गर्भस्थिति के लिए शरीरोत्पत्ति में शुक्र-शोणित निमित्त हैं, उसीप्रकार गर्भस्थिति होजाने के अनन्तर आगे शरीर की रचना में माता-द्वारा कियागया आहार निमित्त होता है। माता जो खाती-पीती है, उसके पचजाने पर माता के शरीर में रस-द्रव्य का उपचय होता है, जिससे गर्भस्थित कलल-पिण्ड पालित पोषित होता हुआ शरीर के रूप में शनैः-शनैः वृद्धि को प्राप्त होतारहता है। गर्भ में शुक्र-शोणित के साथ सञ्चित आहाररस शरीर की क्रमिक रचना का प्रयोजक है। शरीर का रचनाक्रम इन पदों से अभिव्यक्त कियाजाता है—अर्बुद, मांसपेशी, कलल, कण्डर अथवा कण्डरा, शिरस्, पाणि पाद आदि। इनका स्वरूप इसप्रकार समझना चाहिये—अर्बुद-बुलबुलाजैसा, मांस-जब उसमें थोड़ा ठोसपना आजाता है। जब उसमें और अधिक पिट्ठी के समान घनता आजाती है। कलल-अङ्गों की अभिव्यक्ति के लिए उसमें कुछ भाग जब उभरने लगते हैं। कण्डर—जब उसमें कुछ लम्बाई दिखाई देनेलगती है। शिरस्-ऊपर का भाग कुछ अधिक स्पष्ट सिर-जैसा तथा शेष भाग से कुछ भारी अलग-जैसा दीखने लगता है। पाणि—बाँह व हाथ के भाग, एवं पाद—टाँग व पैर के भाग स्पष्ट होजाते हैं। शरीर का ऐसा स्वरूप लगभग तीन मास में पूरा होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में बताया है—

> **प्रथमे मासि संक्लेदभूतो धातुर्विमूर्च्छितः।**
> **मास्यर्बुदं द्वितीये तु तृतीयेऽङ्गेन्द्रियैर्युतः**
>
> [प्रायश्चित्ताध्याय, (३), ७५]

वीर्यधातु अन्य अपेक्षित पार्थिव आदि धातुओं से मिलकर गर्भ के पहले महीने में द्रवरूप बनारहता है। दूसरे महीने में कुछ कठिन मांसपिण्ड के समान

होजाता है; उसकी संज्ञा 'अर्बुद' है। तीसरे महीने में शरीर सिर, हाथ, पैर आदि अङ्ग तथा इन्द्रिय-गोलकों से युक्त होजाता है। सुश्रुत [शा० ३। १४] में कहा है- '**द्वितीये शीतोष्णानिलैरभिपच्यमानो भूतसंघातो घनो जायते।**' शरीर के कारण तत्त्व भूतसंघात गर्भ के दूसरे महीने में सरदी-गरमी तथा प्राणवायु के द्वारा पकायाजाता हुआ घनता-कठोरता को प्राप्त होजाता है।

इसप्रकार माताद्वारा उपभुक्त आहार-द्रव्य के परिणामभूत रसों से पुष्ट होता हुआ शरीर नौ-दस मास में सर्वथा पूर्ण होजाता है; यह प्रसवकाल है। मातृभुक्त आहारद्रव्य के रस गर्भ-नाड़ी द्वारा गर्भ में पहुँचकर शिशु-शरीर को उस समय तक पुष्ट करते रहते हैं, जबतक प्रसवकाल आजाय।

अन्न-पान आदि की यह सब स्थिति घट, पट, रेता, पत्थर आदि की रचना में सम्भव नहीं। इसलिए शरीर की रचना में आत्मा के धर्म-अधर्म को निमित्त मानेजाने में कोई बाधा नहीं है। यदि कर्मनिरपेक्ष भूतों से शरीर की उत्पत्ति होजाया करती, तो शुक्रशोणित सम्पर्क के अनन्तर कोई दम्पती निःसन्तान न रहाकरते ॥ ६६ ॥

कर्मनिरपेक्ष देहरचना नहीं—आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ का प्रकारान्तर से निर्देश किया—

प्राप्तौ चानियमात् ॥ ६७ ॥ (३३६)

[प्राप्तौ] प्राप्त होजाने पर (स्त्री-पुरुष संयोग के) [च] भी [अनियमात्] नियम न होने से सन्तानोत्पत्ति का)।

पति-पत्नी का संयोग सर्वत्र गर्भाधान का हेतु होजाता हो, ऐसा नहीं है। तब मानना पड़ता है, माता-पिता के पूर्व-कर्म जहाँ सन्तानोत्पत्ति के अनुकूल होते हैं, वहाँ संयोग होने पर गर्भाधान एवं सन्तान-प्रसव की सम्भावना रहती है। जहाँ अनुकूल कर्म नहीं होते, वहाँ संयोग निष्फल जाता है। यह नियम नहीं कि संयोग होने पर अवश्य शरीररचना व सन्तानोत्पाद हो। यदि कर्मनिरपेक्ष केवल भूततत्त्व शरीररचना में निमित्त हों, तो पति-पत्नी-संयोग के अनन्तर नियमपूर्वक शरीररचना व सन्तानोत्पत्ति होनी चाहिये; क्योंकि यहाँ अन्य किसी कारण का अभाव नहीं रहता। कारणसामग्री के रहने पर कार्य अवश्य होना चाहिये। नियम से सन्तानोत्पत्तिरूप कार्य का पति-पत्नी-संयोग होने पर भी- न होना, वहाँ किसी कारणविशेष के अभाव को अभिव्यक्त करता है। वह कारण आत्मा के स्वकृत पूर्व-कर्म सम्भव हैं। अतः शरीररचना में कर्मों की कारणता अबाधित है ॥ ६७ ॥

कर्मसापेक्ष है- नर-नारी-संयोग—आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में और भी बताया—

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ॥ ६८ ॥ (३३७)

[शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्] शरीर की उत्पत्ति में निमित्त होने के समान [संयोगोत्पत्तिनिमित्तम्] संयोग की उत्पत्ति में निमित्त होता है [कर्म] कर्म (आत्मा का पूर्वकृत धर्म-अधर्म)।

नर-नारी का संयोग होने पर जब गर्भाधान नहीं होता, वहाँ यह कहाजा-सकता है,–ऐसे अवसरों पर यही समझना चाहिये कि संयोग ठीक नहीं हो-पाया। उसमें कुछ न्यूनता रहगई है, इसी कारण संयोग होने पर गर्भाधान नहीं होसका। इसमें कर्म को निमित्त मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके समाधानरूप में सूत्रकार ने बताया–कर्म न केवल शरीर की उत्पत्ति में कारण हैं, अपितु जो नर-नारी-संयोग शरीरोत्पत्ति का प्रयोजक है, उसका भी निमित्त कर्म है। सन्तानोत्पादक संयोग आवश्यकरूप से कर्मसापेक्ष रहता है। संयोग होने पर गर्भाधान न होना, सन्तानोत्पत्ति में जिस कारण के अभाव को अभि-व्यक्त करता है, वह कारण कर्म है। नर-नारी-संयोग सर्वत्र समान रहते हैं। संयोग में अन्य किसी प्रकार की न्यूनता सम्भव नहीं। इसलिए संयोग की पूर्णता कर्म-सापेक्ष माननी पड़ती है।

शरीर की रचना दुरूह—शरीर की रचना वस्तुतः अत्यन्त दुरूह है। मानवदृष्टि से उसे अकल्पनीय कहाजाय, तो इसमें कुछ असत्य नहीं। पूर्वकाल में, और आज भी, भौतिकविज्ञान, आयुर्विज्ञान एवं जन्तुविज्ञान के इतना अधिक उन्नत होने पर भी शरीररचना के पूर्णज्ञान का दावा नहीं कियाजासकता; रचना करना तो दूर की बात है। शरीर की रचना पर विचार कीजिये—इसमें रक्त आदि धातु, प्राण तथा ज्ञानवहा नाड़ियों का जाल बिछा हुआ है। यह नाड़ीजाल इतना सूक्ष्म एवं परस्पर गुथा हुआ है, जिसका पूर्णरूप से ज्ञान आज-तक भी मानव नहीं करसका है। त्वक्-इन्द्रिय का समस्त शरीर पर व्याप्त रहना, तथा प्रत्येक रोम एवं छोटे-से-छोटे अंश पर संवेदनशीलता व उसकी संचार-पद्धति का विद्यमान होना; न्यूनाधिक मात्रा की मांसपेशियों का यथा-स्थान संघटन एवं विभिन्न अंगों में छोटे-बड़े जोड़ों का सामंजस्य; सिर, भुजाएँ, उदर आदि की चमत्कारी रचना; विभिन्न प्रकोष्ठों में वात, पित्त, कफ के प्रतिष्ठान व सञ्चार आदि की व्यवस्था; मुख-कण्ठ आदि में ध्वनि के उपयोगी अवयव-सन्निवेश; आमाशय-पक्वाशय एवं विविध प्रकार के ऊर्ध्व–अधःस्रोतों का नितान्त व्यवस्थित प्रसार, आदि रूप में शरीर की रचना अपने अवयव-सन्निवेश आदि के साथ इतनी सुविचारपूर्ण नियमित व सुदृढ़ है, जिसे केवल जड़मय भूततत्त्वों के द्वारा सम्पन्न कियाजाना सर्वथा अशक्य है। ऐसी रचना में

कर्मसापेक्षता चेतन के सहयोग का साक्षी है। इसप्रकार आत्मा के सुकृत-दुष्कृत को शरीरोत्पत्ति में निमित्त मानना प्रमाणित होता है।

यह व्यवहार द्वारा स्पष्ट सिद्ध है कि चैत्र के सुख-दुःख आदि भोग का अनुभव मैत्र आदि अन्य किसीको नहीं होता। इसका कारण है—शरीर के आधार पर चैत्र नाम से व्यवहृत आत्मा उस नियत देह में सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है। यदि आत्मा की शरीरप्राप्ति एवं शरीररचना को अकर्मनिमित्त माना-जाता है, तो सुख-दुःख-भोग आदि की इस व्यवस्था का होना असम्भव हो-जायगा। क्योंकि उस दशा में आत्मा सब समान हैं, तथा शरीररचना व भोग के साधन विशुद्ध [कर्मनिरपेक्ष] भूत-तत्त्व सबके लिए समान हैं। तब चैत्र के भोगानुभव का मैत्र को अनुभव होने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। सब अनुभव सबको समानरूप से प्रतीत हों। परन्तु ऐसी स्थिति का नितान्त अभाव है। तब वस्तुस्थिति को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि जिस आत्मा के जो कर्म फलोन्मुख हैं, उनके अनुसार ईश्वरीय व्यवस्था से उस आत्मा के लिये शरीर-रचना होती है; तथा वही आत्मा उस शरीर द्वारा कर्मानुसार सुख-दुःख आदि का अनुभव किया करता है, अन्य आत्मा नहीं। क्योंकि प्रत्येक आत्मा के अपने-अपने कर्म उनसे सम्बद्ध रहते हैं, तथा एक आत्मा की स्थिति को अन्य आत्मा की स्थिति से भिन्न करते हैं।

इसप्रकार जैसे शरीर की उत्पत्ति में कर्म निमित्त हैं, वैसे आत्मा का विशिष्ट शरीर के साथ संयोग होने में कर्म निमित्त हैं। प्रस्तुत प्रसंग में प्रत्येक आत्मा का किसी व्यवस्थित शरीर के साथ सम्बन्ध होना यहाँ 'संयोग' पद का अर्थ है। फलतः आत्मा का ऐसे शरीर के साथ सम्बन्ध होना भी कर्मनिमित्तक है। शरीर की उत्पत्ति के लिए नर-नारी का संयोग, शरीर की विशिष्ट रचना, एवं किसी विशिष्ट आत्मा का एक व्यवस्थित शरीर के साथ संयोग, इन सभी कार्यों में आत्मा के सुकृत-दुष्कृत कर्म निमित्त रहते हैं। सांसारिक विविध अनुभूतियों में आत्म-कर्मों की प्रयोजकता अपना विशिष्ट स्थान रखती है ॥ ६८ ॥

शरीर-भेद कर्मसापेक्ष—आचार्य सूत्रकार ने उक्त विवरण का अन्यत्र अतिदेश बताया—

एतेन[1] नियमः प्रत्युक्तः ॥ ६९ ॥ (३३८)

[एतेन] इस पूर्वोक्त विवरण से [नियमः] नियम का (शरीरों की एक-रूपता का) [प्रत्युक्तः] प्रत्याख्यान समझलेना चाहिये।

---

१. 'एतेनानियमः' ऐसा पाठ अन्य संस्करणों में है। वाचस्पति मिश्र ने भी यही पाठ माना है। परन्तु सभी संस्करणों में पाठान्तर 'एतेन नियमः' दियागया है। यह पाठ अर्थानुकूल उपयुक्त होने के कारण यहाँ स्वीकार किया है।

शरीर आदि की रचना कर्मों को निमित्त माने बिना होजाती है; इस विचार के अनुसार आत्माओं के निरतिशय [विशिष्टतारहित-समान] होने तथा भूतों के परस्पर समान होने से शरीरों की एकरूपता का नियम प्राप्त होता है। परस्पर आत्माओं में तथा परस्पर भूतों में कार्योत्पत्ति के लिए बिलक्षणता के किसी कारण की सम्भावना न होने से शरीर आदि कार्य एकरूप होने चाहियें। प्रस्तुत सूत्र में 'नियम' पद का यही तात्पर्य है। तब एक आत्मा का जैसा शरीर है, सब आत्माओं का वैसा ही शरीर होना चाहिये; इस नियम का प्रत्याख्यान गत सूत्र [६८] द्वारा करदियागया है। शरीरों के वैलक्षण्य का कारण आत्म-कर्म रहते हैं; इनके अनुसार शरीरों की बिलक्षण रचना होने से उक्त नियम नहीं रहता। यह अनियम, भेद अथवा एक-दूसरे से व्यावृत्ति का नियामक है।

इसीके अनुसार प्रत्येक आत्मा के शरीर-सम्बन्धरूप जन्म में भेद देखा-जाता है। कोई ऊँचे कुल में जन्म लेता है, कोई नीच कुल में। कोई शरीर प्रशंसनीय सुन्दर होता है, तथा कोई निन्दित-कुरूप। कोई शरीर रोगयुक्त रहता है, कोई नीरोग। कोई पूरे अंगों से युक्त होता है, कोई विकलांग। कोई शरीर कष्टों से भरा रहता है, कहीं सुखों का बाहुल्य देखाजाता है। कोई शरीर पौरुष-उत्कर्ष के सूचक लक्षणों से युक्त रहता है, जैसे—आजानुबाहु आदि होना; तथा कोई इससे विपरीत होते हैं, अपकर्ष के सूचक, जैसे—अंगुलियों का मोटा व ठिगना होना, दोनों भौंहों का मिले हुए होना आदि। कोई शरीर प्रशंसनीय लक्षणों वाला होता है, अतिसुन्दर सुडौल-सुघटित आदि; तथा कोई निन्दनीय लक्षणों से युक्त, जैसे—नाक व होठों का मोटा होना, माथा दबा हुआ होना आदि। किसी शरीर में इन्द्रियां बड़ी पटु, अपने विषय को ग्रहण करने में पूर्ण समर्थ; तथा कोई शरीर शिथिल इन्द्रियों से युक्त रहता है, न ठीक दिखाई देता न सुनाई देता आदि। शरीर के अन्य सूक्ष्म आन्तरिक भेद इतने होसकते हैं, जिनकी गणना करना कठिन है।

मानव का यह जन्म-सम्बन्धी भेद प्रत्येक आत्मा में समवेत [नियमपूर्वक विद्यमान] धर्म-अधर्म भेद के कारण होता है। यदि प्रत्येक आत्मा में नियत धर्म-अधर्म-रूप अदृष्ट को स्वीकार नहीं कियाजाता, तो स्वकृत कर्मरूप अतिशय से रहित समस्त आत्माओं की स्थिति एक-समान रहती है; तथा पृथिवी आदि भूततत्त्व सबके लिए समानरूप होते हैं; क्योंकि जन्मादि सम्बन्धी भेदों का नियामक कोई हेतु पृथिवी आदि तत्त्वों में नहीं देखाजाता। ऐसी स्थिति में शरीरसम्बन्धी समग्र रचना प्रत्येक आत्मा के लिए समानरूप में प्राप्त होनी चाहिये। परन्तु लोक में ऐसा देखा नहीं जाता। जन्म-सम्बन्धी विशेषताओं का प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है। इस भेद के नियामक आत्माओं के अपने-अपने

विशेष कर्म हैं। इसलिए शरीर की रचना में कर्मों को निमित्त मानना पूर्णरूप से प्रामाणिक है ॥ ६९ ॥

कर्मसापेक्ष जन्म में अपवर्ग की उपपत्ति—जन्म को कर्मनिमित्तक मानने पर मृत्यु का होना तथा कालान्तर में अपवर्ग का होना भी उपपन्न होता है; आचार्य सूत्रकार ने बताया—

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः ॥ ७० ॥ (३३९)

[उपपन्नः] सम्पन्न-सिद्ध होता है [च] भी [तद्-वियोगः] उसका (शरीर का) वियोग (मृत्यु अथवा अपवर्ग रूप में), [कर्मक्षयोपपत्तेः] कर्मों के क्षय की उपपत्ति-सिद्धि से।

विशिष्ट कर्मों के आधार पर आत्मा को एक शरीर प्राप्त होता है। ऐसे कर्मों को प्रारब्ध-कर्म कहाजाता है। इन कर्मों के फल, चालू शरीर के आधार पर भोगे जाकर समाप्त होजाते हैं, तब उस चालू देह का पतन होजाता है; आत्मा उस देह को छोड़जाता है; यह मृत्यु है। आत्मा का शरीर के साथ यह वियोग तभी सम्भव है, जब शरीर की रचना व उसकी प्राप्ति को कर्मनिमित्तक मानाजाता है। क्योंकि प्रारब्ध-कर्मों का क्षय होने से मृत्यु का अवसर आता है। इसीप्रकार आत्मज्ञान होजाने पर जब सञ्चित व प्रारब्ध आदि सब प्रकार के कर्मों का क्षय होजाता है, तब चालू शरीर के पतन के अनन्तर तत्काल देहान्तर (अन्य शरीर) प्राप्त होजाने की सम्भावना नहीं रहती। चालू शरीरपात के अनन्तर निरन्तर देहान्तरप्राप्ति की सम्भावना न रहना अपवर्ग की स्थिति है। इस अवस्था का सिद्ध होना तभी सम्भव है, जब शरीररचना व प्राप्ति को कर्म-निमित्तक मानाजाता है; क्योंकि मृत्यु व अपवर्ग का होना कर्मक्षय पर अवलम्बित रहता है।

प्रारब्ध-कर्मों का भोग से क्षय होकर एक देह के अनन्तर देहान्तर की प्राप्ति होती रहती है। सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्म-साक्षात्कार होने के अनन्तर, मोह (अज्ञान) तथा राग (विषयासक्ति) के क्षीण होजाने से वीतराग आत्मा पुनः देह प्राप्त होने के निमित्तभूत कर्मों का शरीर, वाणी तथा मन से अनुष्ठान करना त्याग देता है। इससे आगे कर्मों का उपचय नहीं होता, तथा पूर्वसञ्चित कर्मों का भोग एवं आत्मज्ञान से क्षय होजाता है। इसप्रकार आगे शरीररचना व उससे आत्मा का सम्बन्ध करनेवाले हेतुओं (कर्मों) का अभाव होजाने से चालू शरीर के पूरा होजाने पर पुनः शरीरान्तर की उत्पत्ति उस आत्मा के लिए नहीं होती। तब उसके जन्म-मरण का निरन्तर क्रम चिरकाल के लिए छूटजाता है। यदि शरीररचना को कर्मनिमित्तक नहीं मानाजाता, तो भूततत्त्वों के सदा बने रहने से आत्मा का भौतिक शरीर के साथ वियोग अनुपपन्न होगा। उस दशा में जन्म-मरण का निरन्तर क्रम कभी समाप्त नहीं होसकता ॥ ७० ॥

आत्मा के देहसम्बन्ध में अविवेक कारण नहीं—जिज्ञासा होती है, शरीर-रचना में कर्मों को निमित्त मानना अपेक्षित नहीं। उसकी रचना में कारण-अदर्शन है। अदर्शन का तात्पर्य है–जड़ और चेतन (प्रकृति-पुरुष) के भेद का न दीखना–ज्ञान न होना, अर्थात् अविवेक। आचार्य सूत्रकार जिज्ञासा का निर्देश करता हुआ समाधान करता है—

तददृष्टकारितमिति चेत् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ॥ ७१ ॥ (३४०)

[तद्-अदृष्टकारितम्] जड़ और चेतन (प्रकृति-पुरुष) के अदर्शन (अज्ञान) से करायाजाता है (शरीरोत्पाद एवं आत्मा के साथ शरीर का संयोग), [इति] ऐसा [चेत्] यदि (कहो, तो वह युक्त नहीं; क्योंकि) [पुनः] फिर [तत्प्रसङ्गः] शरीरसम्बन्ध प्राप्त होता है [अपवर्गे] अपवर्ग में, अथवा अपवर्ग होजाने पर।

सूत्र में 'अदृष्ट' पद का तात्पर्य अदर्शन है—दर्शन-ज्ञान न होना। 'तयोः प्रकृतिपुरुषयोः अदृष्टकारितम्-तददृष्टकारितम्'। प्रकृति-पुरुष के अदर्शन से, उनके भेदज्ञान,विवेकज्ञान के न होने से शरीर की रचना तथा शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध होता है। कारण यह है–शरीर के उत्पन्न न होने पर आयतन-अधिष्ठान से हीन द्रष्टा दृश्य को कभी नहीं देखपाता। द्रष्टा का यह दृश्य दो प्रकार का बतायागया है। एक-विषय-रूप, शब्द, स्पर्श आदि। दूसरा–नानात्व, अर्थात् प्रकृति-पुरुष का भेद। द्रष्टा आत्मा शरीर प्राप्त होने पर रूपादि विषयों को भोगता है, तथा प्रकृति-पुरुष के भेद को जानपाता है। इसप्रकार द्रष्टा आत्मा के शरीर-सम्बन्ध होने पर दृश्य दो हुए–भोग तथा अव्यक्त (जड़ प्रकृति) और चेतन आत्मा के नानात्व-भेद का ज्ञान। पहला–संसार, और दूसरा अपवर्ग है। इन्हीं दो प्रयोजनों को सम्पन्न करने के लिए शरीर की रचना होती है। तात्पर्य है–शरीर की रचना में ये प्रयोजक हैं, कर्म नहीं। जब ये प्रयोजन पूर्ण व सम्पन्न होजाते हैं, तब चरितार्थ हुए भूत उस आत्मा के लिए शरीर को उत्पन्न नहीं करते; उस दशा में शरीर का वियोग मृत्यु अथवा अपवर्ग का होना उपपन्न होता है। अतः शरीररचना में कर्मों को अनपेक्षित समझना चाहिये।

आचार्य सूत्रकार ने इस जिज्ञासा का समाधान किया–यदि शरीररचना में कर्मों को निमित्त नहीं मानाजाता, तथा प्रकृति-पुरुष का अदर्शन शरीररचना का निमित्त है, तो अपवर्ग-दशा में दर्शन के हेतु शरीर के न होने से अदर्शन की अवस्था आजाती है; तब वहाँ भी शरीरोत्पत्ति का होना प्रसक्त होता है। शरीर के उत्पन्न न होने पर प्रकृति-पुरुष का 'अदर्शन' है। वह अदर्शन शरीरोत्पत्ति का प्रयोजक है। शरीरोत्पत्ति अर्थात् शरीर का सद्भाव आत्मसम्बद्ध होकर अदर्शन को हटाने में सहयोग देता है। शरीर की अनुत्पत्ति दशा में जो अदर्शन स्वीकार कियागया है; शरीर के निवृत्त,समाप्त होजाने पर अपवर्ग में जब

शरीर का अभाव रहता है, तब पुनः अदर्शन की स्थिति होगी; क्योंकि दर्शन की उत्पत्ति शरीर के रहने पर होती है। शरीरोत्पत्ति से पहले के अदर्शन और शरीरनिवृत्ति के अनन्तर होनेवाले अदर्शन में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए जैसे शरीरोत्पत्ति से पूर्व की अदर्शन-अवस्था में दर्शन के लिए शरीरोत्पत्ति अपेक्षित है; ऐसे ही शरीरनिवृत्ति के अनन्तर शरीर के अभाव में प्राप्त अदर्शन की स्थिति को हटाकर दर्शन के लिए शरीरोत्पत्ति का होना अपेक्षित होजाता है। तब शरीरनिवृत्ति होनेपर अपवर्ग में जिज्ञासु की उक्त व्यवस्था के अनुसार शरीरोत्पत्ति का होना प्राप्त होता है। इसलिए शरीरचना में कर्मों की उपेक्षा नहीं कीजासकती।

यदि कहाजाय, शरीर के आरम्भक भूततत्त्व प्रकृति-पुरुषभेद के दर्शन के लिए शरीर को उत्पन्न करते हैं। शरीर के उत्पन्न होने पर जब एक बार भेद का दर्शन होजाता है, तब भूत चरितार्थ होजाते हैं, अर्थात् अपने अपेक्षित कर्त्तव्य कार्य को पूरा करचुके होते हैं; तब पुनः शरीर को उत्पन्न करने में उनकी प्रवृत्ति नहीं रहती। इसलिए अपवर्ग-दशा में शरीर के उत्पन्न होने का प्रसङ्ग नहीं आता।

यह कथन युक्त नहीं है; क्योंकि प्रयोजन के पूरा होने और न होने की दोनों अवस्थाओं में शरीर की उत्पत्ति का होना देखाजाता है। शरीरोत्पत्ति के दो प्रयोजन बताये--भोग और प्रकृति-पुरुष के भेद का दर्शन। एक बार शरीर की उत्पत्ति से भोगों की उपलब्धि होने पर भूत चरितार्थ होजाते हैं, फिर भी बार-बार शरीर का उत्पन्न होना जानाजाता है। फिर एक शरीर प्राप्त होने पर वह शरीर प्रकृति-पुरुष के नानात्व-दर्शन को उत्पन्न नहीं करता। उसी कार्य के लिए बार-बार शरीर का उत्पन्न होना निरर्थक रहता है। जब एकबार भोगों के भोगेजाने पर पुनः भोगों की उपलब्धि के लिए शरीर का उत्पन्न होना स्वीकार कियाजाता है; तो एक बार नानात्व का दर्शन होने पर उसके लिए भी पुनः शरीर का उत्पन्न होना क्यों नहीं मानाजासकता। फलतः अपवर्ग में उक्त कथन के आधार पर शरीरोत्पत्ति का होना प्राप्त होता है, जो अवाञ्छनीय तथा अनपेक्षित होने से उसका आधार उक्त कथन त्याज्य है। जन्म-मरण एवं भोग-अपवर्ग की व्यवस्था शरीररचना में कर्मों को निमित्त माने बिना सम्भव नहीं है। आत्मदर्शन अथवा जड़-चेतन के भेददर्शन की व्यवस्था कर्मनिमित्तक सर्ग मानने पर सम्भव है। अन्यथा आत्माओं के निरतिशय तथा भूतों के समान होनेपर किसी अन्य विशिष्ट कारण के अभाव में जन्म-मरण आदि की व्यवस्था तथा अपवर्ग का होना असम्भव होगा।

आर्हतदर्शन की कर्मविषयक मान्यता—कर्मों के फलों का भोग अथवा अनुभव ही 'दर्शन' है, और वह अदृष्टजन्य होता है। यह अदृष्ट परमाणुओं का

गुणविशेष है। वही परमाणुओं की क्रिया का हेतु होता है। उससे प्रेरित हुए परमाणु परस्पर संघट्टित होकर शरीर को उत्पन्न करते हैं। उस शरीर में मन अपने अदृष्ट से प्रेरित हुआ प्रविष्ट होजाता है। मन-सहित शरीर में द्रष्टा को विषयों की उपलब्धि हुआ करती है। ऐसी मान्यता आर्हत-दर्शन में स्वीकार कीगई है।

इस मान्यता में पूर्वोक्त दोष प्राप्त होता है, अर्थात् अपवर्ग-दशा में सांसारिक प्रक्रिया का चालू रहना अबाधित होगा; शरीर और जन्म-मरण का क्रम वहां बना रहेगा। तात्पर्य है–उस दशा में अपवर्ग का होना असम्भव होगा, जो अपवर्ग सर्वदर्शन-संमान्य सिद्धान्त है। कारण यह है–परमाणुओं का गुण-विशेष अदृष्ट–जो परमाणुओं को क्रिया एवं रचना के लिए प्रेरित करता है–सदा बना रहता है। जबतक परमाणु है, तबतक उसका गुण-विशेष अदृष्ट उसमें विद्यमान रहता है। न परमाणु का कभी उच्छेद होता, और न उसका गुणविशेष किसी कारण से उच्छेद्य है। इसलिए शरीर की उत्पत्ति में यह मान्यता भी सर्वथा अग्राह्य है ॥ ७१ ॥

कर्म मनोनिष्ठ नहीं—उक्त मान्यता में आचार्य सूत्रकार स्वयं दोष बताता है—

मनःकर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ॥ ७२ ॥ (३४१)

[मनःकर्मनिमित्तत्वात्] मन में रहनेवाले अदृष्ट (कर्म) के निमित्त होने से [च] और (भी, कभी) [संयोगानुच्छेदः] संयोग (शरीर-मन के संयोग) का उच्छेद न होगा।

परमाणुगत अदृष्ट से प्रेरित परमाणु शरीर को उत्पन्न करते हैं, मनोगत अदृष्ट से प्रेरित मन उस शरीर में प्रविष्ट होजाता है। मनोगत अदृष्ट मन में सदा विद्यमान रहता है। तब शरीर के साथ मन के संयोग का कभी उच्छेद न होगा। एक बार जन्म होकर वह जीवन सदा-सदा के लिए निरन्तर बना रहना चाहिये। मन को शरीर से बाहर निकालनेवाला कोई कारण उपलब्ध नहीं है।

शरीर की उत्पत्ति को कर्मनिमित्तक मानने पर ऐसा कोई दोष सामने नहीं आता। कारण–जिस कर्माशय से एक शरीर का प्रारम्भ होता है, भोग द्वारा उस कर्माशय का क्षय होजाने पर वह शरीर समाप्त होजाता है, अर्थात् उस एक चालू जीवन का मृत्युकाल आजाता है। पुनः सञ्चित कर्माशय से–जो कर्म सद्यः फलोन्मुख होते हैं, उनके निमित्त अन्य शरीर की रचना होकर–पहले शरीर को छोड़कर–इस अन्य शरीर में मन आदि सहित आत्मा आजाता है। यह मृत्यु के अनन्तर पुनः जन्म का होना है। इसप्रकार एक शरीर में भोग द्वारा कर्मक्षयरूप कारण से मन का अपसर्पण तथा अन्य विपच्यमान कर्माशयरूप कारण से शरीरान्तर में उपसर्पण उपपन्न होजाता है।

यदि पूर्वोक्त विचार के अनुसार एक शरीर से मन के अपसर्पण का कारण मनोगत अदृष्ट को मानाजाय, तो अर्थ का सामञ्जस्य नहीं होपाता। क्योंकि मनोगत जो अदृष्ट शरीर में मन के उपसर्पण का हेतु है, वही अदृष्ट अपसर्पण का हेतु नहीं होसकता। एक ही अदृष्टरूप-कारण जीवन और मरण दोनों का हेतु हो, यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। परन्तु उक्त मान्यता के अनुसार जीवन (जन्म, शरीर में मन के उपसर्पण) के हेतु अदृष्ट को ही मरण [शरीर से मन के अपसर्पण) का हेतु कहने में दोनों का हेतु एक है—ऐसा विचार सामने आता है, जो सर्वथा अनुपपन्न है ॥ ७२ ॥

भूत-मनोगत अदृष्ट में दोष—अपने इसी कथन के आधार पर आचार्य सूत्रकार पूर्वोक्त विचार में जीवन के नित्य होने की प्रसक्ति का उद्भावन करता है—

नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः ॥ ७३ ॥ (३४२)

[नित्यत्वप्रसङ्गः] नित्य होना प्राप्त होगा (शरीर का) [च] तथा [प्रायणानुपपत्तेः] प्रायण-मरण के उपपन्न—सिद्ध न होने से।

गतसूत्र में दिये विवरण के अनुसार जब शरीर से मन के संयोग का उच्छेद न होगा, तो मनःसंयोग के निरन्तर बने रहने से मरण का अवसर न आयेगा। मृत्यु की असिद्धि से वही जीवन आगे सदा बने रहने के कारण उस शरीर का नित्य होना प्राप्त होता है।

कर्मों के फल भोग लेने से प्रारब्ध-कर्माशय का क्षय होजाता है। इन्हीं कर्मों के निमित्त से यह शरीर उत्पन्न हुआ, जिससे शरीर-आश्रय में आत्मा उन कर्मों का फल भोगसके। फलभोग से कर्मों के क्षीण होजाने पर उस शरीर का पतन होजाता है, इसका नाम प्रायण अथवा मरण है। अन्य फलोन्मुख कर्माशय फिर सामने आजाता है, उनके निमित्त से आत्मा अन्य शरीर का लाभ करता है, यह पुनर्जन्म है। यदि कर्मनिरपेक्ष केवल विशुद्ध भूतों से शरीर की उत्पत्ति मानीजाती है, तो एकबार शरीर के उत्पन्न होजाने पर उसके पतन का अवसर कभी नहीं आयेगा; क्योंकि उसके उत्पत्तिकारणों में कोई ऐसा विशेष धर्म नहीं मानागया, जिसके क्षय से शरीरनाश का अवसर आये। जब शरीर का नाश न होगा, तो उसके नित्य होने का प्रसङ्ग स्पष्ट है।

यदि मरण को आकस्मिक अहेतुक मानाजाता है, तो मरणविषयक विविधताओं का होना अनुपपन्न होगा। मृत्यु का कोई विशेष कारण न होने से वह सर्वत्र एवं सदा एकरूप होना चाहिए। क्योंकि कार्य में भेद, कारणभेद के विना नहीं होसकता। सिद्धान्तपक्ष में तो कर्मकारणों के विलक्षण होने से जन्म-मरण की विशेषता तथा उनकी विविधताओं का सकारण उपपादन होजाने से कोई दोष सन्मुख नहीं आता ॥ ७३ ॥

मोक्ष में देहोत्पत्ति नहीं, अणुश्यामता के समान—इकहत्तरवें सूत्र से पूर्वोक्त जिज्ञासु के विचार में जो आपत्ति प्रस्तुत कीगई थी–अपवर्ग में शरीर का उत्पन्न होना प्रसक्त होगा। उसका समाधान जिज्ञासु ने सिद्धान्त-पक्ष की एक मान्यता का सहारा लेकर करना चाहा। आचार्य सूत्रकार ने उस भावना को सूत्रित किया—

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत् स्यात् ॥ ७४ ॥ (३४३)

(अणुश्यामतानित्यत्ववत्] अणु की श्यामता के नित्य होने के समान [एतत्] यह (अपवर्ग के अनन्तर वहाँ शरीरोत्पत्ति का अभाव) [स्यात्] सम्भव है।

पृथिवी-परमाणुओं में श्याम-रूप को नित्य कहाजाता है। अग्निसंयोग से उसका नाश होकर उन परमाणुओं में रक्तरूप उत्पन्न होजाता है। नित्य स्वीकृत भी श्यामरूप वहाँ फिर कभी उभर नहीं पाता। इसीप्रकार अदृष्ट अविवेक से उत्पन्न कियागया शरीर, एक वार नष्ट होजाने पर फिर उत्पन्न नहीं होता। इससे अपवर्ग में शरीरोत्पत्ति के प्रसंग का अवसर न आयेगा ॥ ७४ ॥

कर्मनिरपेक्ष भूतमात्र से अविवेकनिमित्तक शरीरोत्पत्ति की सिद्धि में गतसूत्र द्वारा प्रस्तुत कियेगये दृष्टान्त की अनुपपत्ति बताते हुए आचार्य सूत्रकार ने कहा—

नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ॥ ७५ ॥ (३४४)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [अकृताभ्यागमप्रसङ्गात्] अप्रमाणित अर्थ के स्वीकार कियेजाने की आपत्ति से, अथवा न किये हुए की प्राप्ति के प्रसंग से।

कर्मनिरपेक्ष भूतों से शरीर की उत्पत्ति में दियागया दृष्टान्त संगत नहीं है। क्योंकि इसे मानने पर अप्रमाणित अर्थ को स्वीकार करना होगा। सूत्र में 'अकृत' पद का तात्पर्य है–प्रमाण से सिद्ध न होना। जो पदार्थ किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, उसे यदि स्वीकार करना पड़े, तो यह अवाञ्छनीय है। अकर्म-निमित्तक शरीरोत्पत्ति के लिए नित्य अणुश्यामता का दृष्टान्त स्वीकार कियागया। परन्तु अभी तक प्रत्यक्ष अथवा अनुमान आदि किसी प्रमाण से यह सिद्ध नहीं है कि अणु की श्यामता नित्य है, तथा अग्निसंयोग से उसका नाश होकर वह फिर कभी उत्पन्न नहीं होती। वस्तुतः जो नित्य है, उसका नाश होना सम्भव नहीं। तथा द्रव्यों के जो गुण किन्हीं निमित्तों से नष्ट होते व उत्पन्न होते देखेजाते हैं, उनको नित्य कहना सर्वथा असंगत है। इसलिए अणु की नित्य श्यामता स्वयं अपने रूप में अभी सन्दिग्ध है, किसी प्रमाण से उसकी नित्यता सिद्ध न होने के कारण उसे साध्य समझना युक्त होगा। फलतः दृष्टान्त के उक्त स्वरूप व स्थिति को मानने पर एक ऐसे अर्थ को स्वीकार करना पड़जाता है, जो अभी किसी प्रमाण

से सिद्ध नहीं है। अतः उक्त दृष्टान्त के आधार पर प्रस्तुत अर्थ को असंगत मानना युक्त होगा।

अथवा सूत्र के 'अकृताभ्यागमप्रसङ्ग' हेतु का यह अर्थ करना चाहिये—अणुश्यामता-दृष्टान्त से अकर्मनिमित्तक शरीरसर्ग का समाधान करनेवाले के सन्मुख—आत्मा के कर्म किये विना फलप्राप्तिरूप-आपत्ति उपस्थित होगी। आत्मा कर्म तो करता नहीं, परन्तु सुख-दुःख भोगता है, यह 'अकृत-अभ्यागम' विना कर्म किये सुख-दुःख की प्राप्ति महान् आपत्तिजनक दोष है, सर्वथा अन्याय्य है। अपने किये कर्म का फल प्राप्त करना उचित व न्याय्य है। यदि विना कर्म किये सुख-दुःखप्राप्ति को स्वीकार कियाजाता है, तो इसका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरोध स्पष्ट है।

प्रथम प्रत्यक्षविरोध को देखिये—संसार में प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष से इसका अनुभव करता है कि विभिन्न आत्माओं के अनुभव में आनेवाले सुख-दुःख के विविध प्रकार हैं। इनका वैविध्य इतना अधिक है कि पूर्णरूप में उसकी गणना करना अशक्य है। सुख और दुःख किसीको तीव्र होता है, किसीको मन्द। कोई चिरकाल तक दुःख व सुख भोगता है, किसीका अल्पकाल में पूरा होजाता है। कोई नानाप्रकार की सम्पद्-विपद् प्राप्त करता है, किसीको एक-आध प्रकार ही नसीब होता है। फिर सुख-दुःख-प्राप्ति के निमित्तों का कोई ठिकाना नहीं। एक के लिये जो वस्तु सुखहेतु है, वही अन्य के लिये दुःख का हेतु होजाती है। फिर प्राणियों की कोटि-कोटि संख्या व असीमित संख्या होने से उनके सुख-दुःखों का प्रकार व उनके निमित्तों का परिसीमन करसकना असम्भव है। अकर्मनिमित्तक शरीरसर्ग में सुख-दुःख के इस असीमित वैविध्य का कोई विशेष हेतु उपलब्ध नहीं। हेतुविशेष [विभिन्न-हेतु] के न होने पर फलविशेष का होना सम्भव नहीं। परन्तु फलविशेष प्रत्यक्षतः देखेजाते हैं, इसलिए अकर्मनिमित्तक शरीर-सर्ग की स्थिति का प्रत्यक्ष से स्पष्ट विरोध है।

कर्मनिमित्तक शरीरसर्ग मानने पर ऐसी कोई आपत्ति सामने नहीं आती; क्योंकि सुख-दुःख के वैविध्य का निमित्त कर्मों का वैविध्य रहता है। प्राणियों के अपने-अपने विविध कर्म हैं, उनके अनुसार विविध सुख-दुःखभोग। कर्मों का संचय तीव्र-मन्द, उत्कृष्ट-अपकृष्ट, शुभ-अशुभ आदि जैसा होगा, उसके अनुसार सुख-दुःखभोग का वैविध्य उपपन्न होजायगा। इसप्रकार कर्मरूप हेतु के विभिन्न होने से लोक में अनुभूत सुख व दुःख का भेद उपपन्न होजाता है। अकर्मनिमित्तक शरीरसर्ग में हेतु का भेद न होने से सर्वानुभूत सुख-दुःखभेद न होगा। इस मान्यता में यही प्रत्यक्षविरोध है।

अब अनुमान का विरोध देखिये—आत्मा के एक गुण अदृष्ट की स्थिति के अनुसार सुख-दुःखभोग की स्थिति देखीजाती है। यह चेतन आत्मा किन्हीं

विशिष्ट साधनों के सहयोग से सम्पादनीय सुखों को जान-समझकर उस सुख को प्राप्त करना चाहता है। तब उन साधनों का संग्रह करने के लिये प्रयत्न करता है। प्रयत्न द्वारा साधनसञ्चय से वह व्यक्ति सुख को प्राप्त करलेता है। इससे विपरीत जो यत्न नहीं करता, वह सुख को प्राप्त नहीं करपाता।

इसीप्रकार विशिष्ट साधनों से होनेवाले दुःख को जान-समझकर यह चेतन आत्मा–उन दुःखों को छोड़ने एवं उनसे दूर रहने की अभिलाषा से–दुःख-साधनों को छोड़ने के लिये यत्न करता है। इसके फलस्वरूप वह अपने-आपको दुःख से दूर रखपाता है। जो ऐसा नहीं करता, दुःख-साधनों को छोड़ने की ओर प्रयत्नशील नहीं रहता, वह दुःख से दूर नहीं रहपाता,–दुःखों को सतत भोगा करता है। इसका परिणाम निकला–चेतन आत्माओं के सुख-दुःख की व्यवस्था आत्म-गुण प्रयत्न के विना नहीं होती। परन्तु यह प्रयत्न सर्वत्र समान नहीं रहता; उसकी व्यवस्था किसी अन्य आत्म-गुण से नियन्त्रित होती है,–यह अनुमान से जानाजाता है। अकर्मनिमित्तक सुख-दुःख-प्राप्ति मानने पर इसका उक्त अनुमान से विरोध होता है। कारण यह है कि आत्मगुण-प्रयत्न का व्यवस्थान आत्मा के जिस अन्य गुण के द्वारा मानाजाता है, वह गुण आत्मनिष्ठ संस्कार तथा धर्म-अधर्म हैं। संस्कार आत्मा के पूर्वकृत कर्मों का परिणाम है; तथा धर्म-अधर्म आत्मा द्वारा अनुष्ठित शुभ तथा अशुभ कर्मों से जनित होते हैं। इससे सुखादि के अभिलाषी पुरुष के प्रयत्न का व्यवस्थापन कर्माधीन रहता है, यह अनुमान से प्रमाणित होता है। सुखादि-प्राप्ति अकर्मनिमित्तक मानने पर उसका विरोध स्पष्ट है।

इसके अनन्तर अब आगमविरोध देखना चाहिये--ऋषियों ने अनुष्ठेय और परिवर्जनीय कर्मों के विस्तृत उपदेश दिये हैं, जो धार्मिक, आध्यात्मिक व सामाजिक वेदानुकूल साहित्य के रूप में हमें प्राप्त हैं। उन उपदेशों का यह फल है कि समाज वर्ण एवं आश्रम-विभाग के अनुसार अनुष्ठेय कर्मों में प्रवृत्त रहता, तथा वर्जनीय कर्मों से निवृत्त रहता है। यह इसीलिए होता है, जिससे शुभ कर्मों का अनुष्ठान, तथा अशुभ कर्मों का परित्याग कियाजासके। जो दर्शन इस विचार का अनुयायी है कि–शुभ-अशुभ कर्म कोई नहीं, आत्मा को सुख-दुःख का भोग विना कर्म किये होतारहता है--वह पूर्वोक्त आगम से स्पष्ट विरुद्ध है। फलतः अकर्मनिमित्तक शरीरोत्पत्ति तथा सुख-दुःख-भोग को प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण पापाचरण करनेवाले नास्तिकों का मिथ्यादर्शन समझना चाहिये ॥ ७५ ॥

इति तृतीयाऽध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।
समाप्तस्तृतीयोऽध्यायः ।

अथ चतुर्थाध्यायस्याद्यमाह्निकम्

प्रवृत्ति की परीक्षा—गत अध्याय के अन्तिम भाग में मन की परीक्षा की-गई। प्रमेयसूत्र [१।१।९] पठित अनुक्रम के अनुसार मन की परीक्षा के अनन्तर प्रवृत्ति की परीक्षा कीजानी चाहिये। शास्त्र के प्रारम्भ [१।१।१७] में प्रवृत्ति का स्वरूप बताया है।

व्यक्ति जो आरम्भ [क्रिया, अनुष्ठान] अपने मन, वाणी और शरीर से करता है, वह सब प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति शुभ-अशुभ दोनों प्रकार की होती है। जब इसकी पृष्ठभूमि में राग-द्वेष का अधिकार रहता है, तब असत्य, ईर्ष्या, माया, लोभ आदि दोष प्रत्येक प्रवृत्ति के मूल में उभर आते हैं। उन दोषों से प्रेरित हुआ व्यक्ति शारीरिक प्रवृत्ति में हिंसा, चोरी, प्रतिषिद्ध मैथुन आदि का आचरण करता है। वाचिक प्रवृत्ति में असत्य एवं कठोर भाषण, गाली-गलौच, चुग़ल-खोरी आदि जैसे कार्य करता है। मानस प्रवृत्ति में परद्रोह, दूसरे की धन-सम्पदा को हड़पलेने की अभिलाषा, एवं नास्तिक भावनाओं में रमजाता है। यह पापात्मिका अशुभ प्रवृत्ति है, जो अधर्म की जनक होती है।

इससे विपरीत प्रवृत्ति शुभ है। इसके मूल में राग, द्वेष का अधिकार न होकर करुणा एवं सहानुभूति का प्राबल्य [—उभार] रहता है। तब व्यक्ति शरीर से प्रवृत्त हुआ दान, दूसरों की रक्षा तथा सेवा करता है। वाणी से प्रवृत्त हुआ सत्य, हितकारी एवं प्रिय-भाषण तथा स्वाध्याय आदि में संलग्न रहाकरता है। मन से प्रवृत्त हुआ—सब प्राणियों पर दया, किसी की सम्पदा आदि के लिए इच्छा न करना, सम्पन्न सुखीजनों को देखकर प्रसन्न व उल्लसित होना, तथा आस्तिक भावनाओं में श्रद्धा रखनेवाला होता है। यह प्रवृत्ति धर्म की जनक होती है।

इस सबकी परीक्षा, धर्म-अधर्म की परीक्षा के साथ तथा धर्म-अधर्म अनुष्ठान के आश्रय शरीर आदि की परीक्षा के रूप में कीजाचुकी है। उसे प्रवृत्ति की परीक्षा समझनी चाहिये। इसी भावना से आचार्य सूत्रकार ने कहा—

प्रवृत्तिर्यथोक्ता ॥ १ ॥ (३४५)

[प्रवृत्तिः] प्रवृत्ति को [यथा] जिस रूप में [उक्ता] कहागया है, (उसी-को प्रवृत्ति की परीक्षा समझनी चाहिये)।

शास्त्र के गत प्रसंगों में जहाँ-जहाँ प्रवृत्तिविषयक विवरण प्रस्तुत हुआ है, वह प्रवृत्ति की परीक्षा है, जिसका संकेत प्रस्तुत सूत्र की अवतरणिका में कर-दिया है ॥ १ ॥

दोषों की परीक्षा—प्रवृत्ति के अनन्तर दोषों की परीक्षा होनी चाहिये; इस भावना से सूत्रकार ने बताया—

तथा दोषाः ॥ २ ॥ (३४६)

[तथा] वैसे [दोषाः] दोषों की परीक्षा होगई है।

'दोष' पद से राग, द्वेष, मोह का ग्रहण होता है। इसका विवरण शास्त्र के प्रारम्भ [१। १। १८] में आगया है। ज्ञान का आश्रय चेतन आत्मा है, वही राग, द्वेष, मोह का आश्रय है, अर्थात् जैसे ज्ञान आत्मा का गुण है, वैसे राग आदि आत्मा के गुण हैं। पदार्थज्ञान के विना राग आदि का उद्भव नहीं होता। इससे स्पष्ट है–जहाँ ज्ञान है, वहाँ राग आदि है।

ये दोष सबप्रकार की प्रवृत्ति के कारण होते हैं, तथा पुनर्जन्म के सम्पादन एवं प्राप्त कराने मे इनका सामर्थ्य रहता है; इसीलिए इनको संसार का हेतु, अर्थात् जन्म-मरण के अनवरत संसरण का कारण मानाजाता है। संसार अनादि है, इसलिए राग आदि का क्रमानुक्रम (सिलसिला-संसरण) अनादिकाल से प्रवृत्त है। ऐसे संसरण का संकेत शास्त्र के प्रारम्भ में द्वितीय सूत्र द्वारा कियागया है। इसका मूल मिथ्याज्ञान है। उसकी निवृत्ति तत्त्वज्ञान से होती है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होजाने पर मिथ्याज्ञानमूलक राग, द्वेष, मोह का सिलसिला समाप्त होजाता है। इनका इसप्रकार उच्छेद होजाना 'अपवर्ग' है। यह स्थिति आत्मा की मोक्षदशा का बोध कराती है।

राग आदि दोष सदा उत्पाद-विनाशशाली होते हैं। किन्हीं राग-द्वेष आदि का नाश तथा अन्य राग-द्वेष आदि का उत्पाद क्रमानुक्रम से बराबर हुआ करता है। दोषों के ऐसे स्वरूप का निरूपण प्रथम यथाप्रसंग कियाजाचुका है। इसके लिये [३। १। २५ के] प्रसंग को देखना चाहिए॥ २॥

दोषों की तीन राशि—शिष्य जिज्ञासा करता है–दोषों में केवल राग, द्वेष, मोह की गणना कीजाती है; मान, ईर्ष्या, असूया, मद, मात्सर्य आदि की उपेक्षा करदीगई है। दोषों में इनकी गणना क्यों नहीं कीजाती? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ॥ ३ ॥ (३४७)

[तत्-त्रैराश्यम्] उन (दोषों) के तीन राशि हैं (तीन समुदाय हैं, उन सबका) [राग-द्वेष-मोहार्थान्तरभावात्] राग, द्वेष, मोह में अन्तर्भाव होजाता है।

उन समस्त दोषों के तीन समुदाय–तीन पक्ष हैं। मद-मात्सर्य, काम-ईर्ष्या आदि समस्त प्रवृत्ति-हेतु दोष उन्हीं तीन समुदायों में अन्तर्हित (छिपे) रहते हैं। काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ ये सब राग-समुदाय में आजाते हैं। क्रोध,

ईर्ष्या, असूया, द्रोह, अमर्ष आदि का समावेश द्वेष-पक्ष में होजाता है। मोह-पक्ष में आते हैं–मिथ्याज्ञान, विचिकित्सा (संशय–सन्देह, शक्की होने की आदत), मान (मिथ्या घमण्ड), प्रमाद आदि। इसप्रकार तीन समुदायों के अन्तर्गत दोषों का सब परिवार आजाता है, इसलिए उनकी नाम लेकर गणना नहीं कीगई।

आशंका कीजासकती है, दोषों को उक्त तीन राशि में बाँटकर क्यों रक्खाजाता है? एक राशि दोष नामक रहे; उसीमें सब अन्तर्गत हों। तीन पक्षों में दोषों का विभाग करना अनुपपन्न है।

आचार्यों का कहना है–यह विभाग अनुपपन्न नहीं है; क्योंकि राग, द्वेष, मोह, परस्पर एक-दूसरे से सर्वथा भिन्नस्वरूप हैं। एक-दूसरे की कोटि में इनका अन्तर्भाव नहीं होसकता। राग आसक्ति-स्वरूप है;–किसी अन्य की ओर गहरी अनुकूलता के साथ आकृष्ट होना। जबकि, द्वेष अमर्षस्वरूप होता है, अन्य को सहन न करपाना। यहाँ अनुकूलता का अंश भी न रहकर विशुद्ध-प्रतिकूलता का अस्तित्व है। दोनों का क्षेत्र एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। मोह मिथ्याज्ञान-स्वरूप है, जो पहले दोनों से सर्वथा भिन्न है। इसमें अनुकूलता-प्रतिकूलता दोनों का अभाव रहता है, इसलिए यह उन दोनों कोटियों में अन्तर्भुक्त न होकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है।

इनके विभिन्न स्वरूपों को प्रत्येक व्यक्ति अपने दैनिक व्यवहार में अच्छी-तरह समझता है। जब किसी व्यक्ति की भावना राग से अभिभूत रहती है, वह भलीभाँति जानता है कि मेरे अन्दर इस समय राग का उद्रेक है। इसीप्रकार वह विराग अर्थात् राग न होने की स्थिति को भी जानता है। ऐसे ही द्वेष का उद्रेक होने पर उसका स्पष्ट अनुभव कियाजाता है। दोनों के अभाव में मोह की स्थिति को जानना भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव होता है। ऐसी दशा में दोषों की–परस्पर भिन्न इन तीन राशियों का स्वीकार कियाजाना अनिवार्य है। मान, ईर्ष्या, असूया आदि का अन्तर्भाव यथायथ इन्हीं तीनों में होजाता है, जैसा प्रथम निर्देश करदियागया है। इसीकारण ईर्ष्या, असूया आदि की अतिरिक्त गणना उपेक्षित करदीगई है ॥ ३ ॥

तत्त्वज्ञान एक विरोधी से दोष-त्रैराश्य अयुक्त—शिष्य आशंका करता है–राग आदि का त्रैराश्य अस्वीकार कियाजाना चाहिये, क्योंकि इनका विरोधी धर्म केवल एक तत्त्वज्ञान है। उसकी प्रतियोगिता में इनका एक मानाजाना, अथवा एक इकाई के रूप में इन्हें स्वीकारना सामंजस्यपूर्ण है। शिष्य की इस भावना को आचार्य ने सूत्रित किया—

नैकप्रत्यनीकभावात् ॥ ४ ॥ (३४८)

[न] नहीं (युक्त, रागादि का त्रैराश्य), [एकप्रत्यनीकभावात्] एक विरोधी होने से (इन सबका)।

राग, द्वेष, मोह तीनों का विनाश एकमात्र तत्त्वज्ञान से होजाता है। एक के द्वारा इनका नाश होना, इनके एक माने बिना सम्भव नहीं। घट-पट परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। घटविषयक ज्ञान, घटविषयक अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान को नष्ट करसकता है; पटविषयक अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान को नहीं। यदि राग आदि वस्तुतः एक-दूसरे से भिन्न हैं, तो इनका विनाशक विरोधी तत्त्व एक नहीं होसकता। परन्तु यह निश्चित है कि इनका विनाशक विरोधी तत्त्व एकमात्र तत्त्वज्ञान है; तब इनको परस्पर भिन्न न मानकर एक मानना होगा। इससे इनका त्रैराश्य समाप्त होजाता है।

त्रैराश्य असंगति में 'एकनाश्य' हेतु अनैकान्तिक—तत्त्वज्ञान वस्तु के यथार्थज्ञान को कहते हैं। जिसका सम्यङ्मति, आर्यप्रज्ञा, सम्बोध आदि अनेक पदों से लोक व शास्त्र में व्यवहार होता है ॥ ४ ॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त आशंका का समाधान किया—

व्यभिचारादहेतुः ॥ ५ ॥ (३४९)

[व्यभिचारात्] व्यभिचार-अनैकान्तिक होने से [अहेतुः] उक्त हेतु संगत नहीं है।

विभिन्न अनेक पदार्थों का एक से नाश होना देखाजाता है। कपड़ा, लकड़ी, पुस्तक, ये सब एक-दूसरे से भिन्न—विजातीय पदार्थ हैं, परन्तु एक अग्नि से सबका नाश होजाता है। इसलिए एकनाश्य होना वस्तुओं के अभेद का कारण नहीं होसकता। जो एकनाश्य हैं, वे सब अभिन्न हैं, यह व्यभिचरित व्याप्ति है। अतः 'एकप्रत्यनीक' हेतु अनैकान्तिक होने से साध्य का साधक नहीं।

इसीप्रकार मिट्टी से बने कच्चे घड़े में रूप श्याम है, स्पर्श मृदु है, गन्ध एक विशेष प्रकार का है। ये रूप, स्पर्श और गन्ध एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् गुण हैं; परन्तु इन सबका नाश एक अग्निसंयोग से होजाता है। पाकजन्य जितने गुण हैं, उन सबका कारण एक है—अग्निसंयोग। इसप्रकार एक अग्निसंयोगनाश्य होने पर भी रूपादि गुण परस्पर अभिन्न नहीं हैं। ऐसे ही एक तत्त्वज्ञान से नाश्य होने पर राग-द्वेष-मोह की अभिन्नता सिद्ध नहीं होती। फलतः 'एकप्रत्यनीक' हेतु अनैकान्तिक होने से अहेतु है, साध्य का असाधक है ॥ ५ ॥

मोह दोषों में पापीयान्—राग-द्वेष-मोह के परस्पर विभिन्न अर्थ होने पर आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥ ६ ॥ (३५०)

[तेषाम्] उन तीनों में से [मोहः] मोह [पापीयान्] अत्यन्त पापी-दुष्ट

(अतिप्रबल) है, [न] नहीं [अमूढस्य] मोहरहित व्यक्ति के [इतरोत्पत्तेः] इतर–राग द्वेष–की उत्पत्ति होने से।

जो व्यक्ति मोहरहित है, उसे किसीके प्रति राग-द्वेष नहीं रहता। क्योंकि मोह राग-द्वेष का जनक है; राग-द्वेष का मूल है–मोह। इसीलिए इन तीनों में मोह अतिप्रबल है। मोह वस्तुतः सत्य-असत्य, तत्त्व-अतत्त्व के विवेक का न होना है। जब व्यक्ति यथार्थ तत्त्व को नहीं समझता, तभी राग-द्वेष के जाल में फँसता है। शब्द, स्पर्श आदि विषयों में हर्ष व उल्लासपूर्ण संकल्पों का होना, उनमें राग का हेतु है। ऐसे संकल्प व्यक्ति को तभी अभिभूत करते हैं, जब वह शब्द-स्पर्श आदि विषयों की यथार्थता से अनभिज्ञ रहता है। यह मोह की दशा है। विषयों को सुख का साधन समझकर व्यक्ति उनमें अनुरक्त होजाता है। ऐसे ही विक्षेप-विघटन के जनक संकल्प द्वेष के हेतु होते हैं। ये दोनों प्रकार के संकल्प, मिथ्याज्ञानरूप मोह के क्षेत्र से अपने-आपको बाहर नहीं करपाते। इनका अस्तित्व व उभार मोह के दायरे में घिरा रहता है। इसप्रकार मोह इन दोनों–राग और द्वेष–का कारण है। मोह के क्षेत्र में ये अंकुरित होते, पनपते और बढ़ते हैं।

तत्त्वज्ञान होजाने से मिथ्याज्ञानरूप मोह की निवृत्ति-समाप्ति होजाती है, जड़ें उखड़जाती हैं। तब राग-द्वेष के अंकुरित होने का अवकाश नहीं रहता। खेत ही न रहा, तो अंकुर सिर कहाँ उठायेगा ? इसप्रकार एकमात्र विरोधी तत्त्वज्ञान से तीनों चारों-खाने चित आते हैं; अपना दम तोड़ बैठते हैं। तत्त्वज्ञान से किसप्रकार इन तीनों का नाश होता है, इसका विवेचन शास्त्रारम्भ के द्वितीय सूत्र [१ । १ । २] में विस्तार से करदियागया है।

तत्त्वज्ञान वस्तुतः अपने विरोधी एकमात्र मिथ्याज्ञान का नाश करता है। उसके नाश से तज्जन्य राग-द्वेषवर्गीय समस्त दोष नष्ट होजाते हैं। जब मिथ्याज्ञान कारण न रहा, तो रागादि कार्य कैसे रहसकेंगे ? अतः चतुर्थसूत्र में निर्दिष्ट आपत्ति का यह भी समाधान है ॥ ६ ॥

मोह दोष नहीं—इतना सुनकर शिष्य जिज्ञासा की भावना से प्रोत्साहित हो उछल पड़ा; बोला—तब तो मोह को दोष नहीं मानाजाना चाहिये। शिष्य-जिज्ञासा को आचार्य ने सूत्रित किया—.

निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तरो दोषेभ्यः ॥ ७ ॥ (३५१)

[निमित्तनैमित्तिकभावात्] कारण-कार्यभाव होने से (मोह और राग-द्वेष में) [अर्थान्तरः] भिन्न अर्थ है (मोह) [दोषेभ्यः] दोषों से (राग-द्वेष से)।

कारण अन्य होता है, और कार्य अन्य। तात्पर्य है–प्रस्तुत दर्शन में कार्य-कारण का परस्पर भेद स्वीकार कियाजाता है। गतसूत्र में बतायागया–मोह के

विना राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती। इससे राग-द्वेष कार्य, और मोह उनका कारण सिद्ध होता है। कार्य और कारण का भेद होने से मोह राग-द्वेष की श्रेणी से बाहर निकलजाता है। राग-द्वेष दोष हैं, तब मोह को दोषों में नहीं गिनाजाना चाहिए ॥ ७ ॥

दोष के अन्तर्गत है, मोह—आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥ ८ ॥ (३५२)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [दोषलक्षणावरोधात्] दोष के लक्षण की सीमा में आजाने से [मोहस्य] मोह के।

आचार्य ने दोष का लक्षण बताया है–'प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः' [१।१।१८] जो शुभ-अशुभ प्रवृत्ति के हेतु हैं, वे दोष हैं। मोह भी राग-द्वेष के समान इस लक्षण के अन्तर्गत आजाता है। इसलिये मोह को दोष मानेजाने में कोई बाधा नहीं; भले ही वह राग-द्वेष का कारण रहता हो। इससे उसके दोष-स्वरूप में कोई न्यूनता नहीं आती ॥ ८ ॥

कार्यकारणभाव तुल्यजातीयों में भी—सूत्रकार समानजातीय पदार्थों में कार्य-कारणभाव की प्रामाणिकता बताकर उक्त कथन को पुष्ट करता है—

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेधः ॥ ९ ॥ (३५३)

[निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेः] कारण-कार्यभाव सिद्ध होने से [च] भी, अथवा तथा [तुल्यजातीयानाम्] समानजातीय पदार्थों का, [अप्रतिषेधः] मोह के दोष होने का प्रतिषेध करना असंगत है।

समानजातीय द्रव्यों तथा गुणों का परस्पर समवायि–असमवायि निमित्त-भेद से विविध प्रकार का कार्य-कारणभाव प्रमाणसिद्ध है। मृत्तिका और घट समानजातीय हैं–द्रव्य अथवा पार्थिव रूप में। मृत्तिका घट का समवायिकारण है। कारणगत गुण कार्य में गुणों के असमवायिकारण होते हैं। गुण होने से दोनों [कारण-कार्यगत गुणों] की समानजातीयता स्पष्ट है। काल द्रव्य है, वह समस्त कार्य-द्रव्यों का निमित्तकारण होता है। इसीप्रकार दोष होते हुए भी मोह समानजातीय राग-द्वेष का कारण होसकता है ॥ ९ ॥

प्रेत्यभाव की परीक्षा—दोषों की परीक्षा के अनन्तर अब 'प्रेत्यभाव' की परीक्षा का क्रम है। जन्म-मरण के अनुक्रम (सिलसिले) को 'प्रेत्यभाव' कहाजाता है। परन्तु आत्मा के नित्य होने से ऐसा प्रेत्यभाव अनुपपन्न है। शिष्य की ऐसी जिज्ञासा पर आचार्य ने बताया–आत्मा के नित्यत्व की सिद्धि के अवसर पर

प्रेत्यभाव के स्वरूप को सिद्ध कियागया है, उसीके अनुसार यह समझना चाहिये—

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥ १० ॥ (३५४)

[आत्मनित्यत्वे] आत्मा के नित्य होने पर [प्रेत्यभावसिद्धिः] प्रेत्यभाव की सिद्धि होती है।

'प्रेत्यभाव' का यह तात्पर्य नहीं है कि नित्य आत्मा स्वरूप से मरता व जन्म लेता है। प्रत्युत–आत्मा के द्वारा चालू शरीर को छोड़देना 'मरण' है। अनन्तर अन्य शरीर को प्राप्त करना 'जन्म' है। आत्मा को नित्य मानने पर इसप्रकार शरीरों के छोड़ने और प्राप्त करने का अनुक्रम सम्भव है। अन्यथा स्वरूप से उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाली वस्तु फिर कभी दोबारा अस्तित्व में नहीं आसकती; इसप्रकार अनित्य पदार्थ के विषय में प्रेत्यभाव का प्रश्न नहीं उठता। नित्य आत्मा के देह की प्राप्ति–और परित्याग–का नाम प्रेत्यभाव है। आत्मा को अनित्य मानने पर 'कृतहानि' और 'अकृतप्राप्ति' दोष प्रसक्त होता है। आत्म-सम्बन्धी ऐसा सब विवेचन तृतीयाऽध्याय के प्रारम्भ में विस्तार से करदियागया है॥ १० ॥

व्यक्त देहादि का कारण व्यक्त—नित्य आत्मा का एक देह को छोड़कर अन्य देह को प्राप्त करना जन्म है; इस प्रसंग से शिष्य जिज्ञासा करता है, वह देह उत्पन्न कैसे होता है ? सूत्रकार ने बताया—

व्यक्ताद् व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ॥ ११ ॥ (३५५)

[व्यक्तात्] व्यक्त कारण से [व्यक्तानाम्] व्यक्त कार्यों की (उत्पत्ति होती है) [प्रत्यक्षप्रामाण्यात्] प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध होने से।

व्यक्त मृत्तिका से अथवा व्यक्त मृद्-अवयवों से व्यक्त घट उत्पन्न होता है, यह प्रत्यक्ष से जानाजाता है। इसीप्रकार व्यक्त शरीर अपने अवयवरूप व्यक्त कारणों से उत्पन्न होता है। शरीर के कारण पृथिवी आदि वे भूततत्त्व हैं, जो परमसूक्ष्म नित्य परमाणुरूप में जानेजाते हैं। उन परमाणुओं से त्रसरेणु आदि के रूप में पृथिवी आदि प्रत्यक्ष भूततत्त्व उत्पन्न होते हैं, जो शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रियग्राह्य अन्य समस्त पदार्थ तथा आत्मा के भोगसाधनभूत–अन्य पदार्थों के आधार हैं–समवायिकारण हैं। पृथिवी आदि समस्त द्रव्यादि व्यक्त जगत् उन्हीं मूल उपादान व्यक्त तत्त्वों से यथाक्रम उत्पन्न होता हुआ वर्त्तमानरूप में आता है।

इन्द्रियग्राह्य पदार्थ को व्यक्त कहाजाता है। उसकी समानता से उसका कारणतत्त्व भी व्यक्त मानाजाता है। कार्य-कारण दोनों में रूप आदि गुणों का योग होना उनकी समानता है। रूपादि गुणों से युक्त परमसूक्ष्म नित्य पृथिवी आदि

परमाणुओं से रूपादि गुणयुक्त शरीर आदि की उत्पत्ति होती है। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण का आधार इसप्रकार समझना चाहिये–रूपादिगुणयुक्त मृत्तिका से रूपादि-गुणयुक्त घट की उत्पत्ति प्रत्यक्षसिद्ध है। उससे अदृष्ट मूल उपादान तत्त्व की वैसी [रूपादिगुणयुक्त] स्थिति का अनुमान करलेना चाहिये। प्रत्यक्षगृहीत पृथिवी आदि कारण-कार्यों में रूपादि गुणों का अन्वय [अनुक्रम-सिलसिला-कारणगुणों से कार्य में गुणों का उत्पन्न होना] देखाजाता है। रूपादि का यह अनुक्रम मूल उपादान परमाणु तक पहुँचता है; इससे रूपादिगुणयुक्त नित्य, अतीन्द्रिय परमाणुओं का रूपादिगुणयुक्त विश्व कार्य के प्रति-कारणभाव अनुमान द्वारा स्वीकार कियाजाता है।

नित्य परमसूक्ष्म परमाणुओं से स्थूल देहादि कैसे उत्पन्न होजाते हैं? उसकी प्रक्रिया का प्रस्तुत सूत्र द्वारा संकेत कियागया है। तथा दृश्य जगत् के अनुसार मूल उपादानतत्त्व के स्वरूप का निर्देश कियागया है—दृश्य के समान मूल उपादान रूपादिगुणयुक्त है। वे परमाणु नर-नारी में शुक्र-शोणितरूप प्राप्त कर उनके संयोग से देह को उत्पन्न करते हैं। इसप्रकार व्यक्त तत्त्वों से व्यक्त देहादि की उत्पत्ति होती है॥ ११॥

व्यक्तमात्र से व्यक्त की उत्पत्ति नहीं—शिष्य आशंका करता है, सर्वत्र व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति नहीं देखीजाती। व्यक्त घट से अन्य घट उत्पन्न नहीं होता। सूत्रकार ने आशंका को सूत्रित किया—

न घटाद् घटानिष्पत्तेः॥ १२॥ (३५६)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन) [घटात्] घट से [घटानिष्पत्तेः] घट की निष्पत्ति-उत्पत्ति न होने से।

व्यक्त से व्यक्त उत्पन्न होता है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि व्यक्त घट से कोई घट उत्पन्न होता नहीं देखाजाता। इसलिये यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है कि व्यक्त से व्यक्त उत्पन्न नहीं होता। इससे पूर्व-कथन का प्रतिषेध होजाता है। व्यक्त को सर्वत्र कारण बताना असंगत है॥ १२॥

व्यक्त घट आदि व्यक्त कारण से—आचार्य सूत्रकार ने शंका का समाधान किया—

व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः॥ १३॥ (३५७)

[व्यक्तात्] व्यक्त कारण से [घटनिष्पत्तेः] घट की उत्पत्ति होने से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध असंगत है (व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होने का)।

आचार्य सूत्रकार कहता है—हमारा यह आशय कदापि नहीं, और न हमने कहीं ऐसा कहा है कि प्रत्येक व्यक्त द्रव्य अन्य व्यक्त को उत्पन्न करता है। इसका आशय केवल इतना है कि जो व्यक्त द्रव्य आदि पदार्थ उत्पन्न होता है,

वह उसीप्रकार के व्यक्त द्रव्य से उत्पन्न हुआ करता है; व्यक्त घट जिन द्रव्यों से उत्पन्न होता है, वे मृद्-अवयव अथवा कपाल-खण्ड व्यक्त द्रव्य हैं। यदि इसका अपलाप कियाजाता है, तो कहीं कोई व्यवस्था टिक नहीं सकती। यह कार्य-कारणभाव का यथार्थ सिद्धान्त है। अतः व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति का प्रतिषेध युक्त नहीं है ॥ १३ ॥

उत्पत्तिविषयक वाद—कार्य की उत्पत्ति के विषय में अनेक वादियों के विविध विचारों को प्रसंगवश सूत्रकार ने यहाँ प्रस्तुत किया है। उनमें एक विचार इसप्रकार है—

अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥ १४ ॥ (३५८)

[अभावात्] अभाव से [भावोत्पत्तिः] भाव पदार्थ की उत्पत्ति होती है [न] नहीं [अनुपमृद्य] उपमर्द–विनाश किये विना (कारण का), [प्रादुर्भावात्] प्रादुर्भाव से–कार्य की उत्पत्ति होने से।

अभाव से भावोत्पत्ति—कार्य की उत्पत्ति के विषय में एक पक्ष है–अभाव–असत् से भाव-सत् की उत्पत्ति होजाती है। यह देखाजाता है–खेत में बीज बोने पर बीज को नष्ट किये विना अंकुर उत्पन्न नहीं होता। बीज का विनाश यदि अंकुर का कारण न हो, तो बीज के यथावस्थित रहने पर अंकुर उपज आना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं देखाजाता; इसलिये यही समझना चाहिये कि जिसको कार्य का कारण बतायाजाता है, वस्तुतः उसका विनाश कार्य का कारण होता है, वह स्वयं नहीं। जैसे–बीज को अंकुर का कारण कहा जाता है, परन्तु बीज जबतक अपनी स्थिति में रहता है, अंकुर उत्पन्न नहीं होता; बीज को मिट्टी में मिलादेने से जब वह स्वरूप को छोड़ देता है, तब अंकुर उद्भव में आता है। इससे स्पष्ट होता है–अंकुर का कारण बीज न होकर बीजाभाव है। यह स्थिति अभाव से भाव की उत्पत्ति को सिद्ध करती है ॥ १४ ॥

भावोत्पत्ति अभाव से नहीं—आचार्य सूत्रकार ने इसका समाधान करते हुए बताया—

व्याघातादप्रयोगः ॥ १५ ॥ (३५९)

[व्याघातात्] व्याघात से–विरोध से [अप्रयोगः] उक्त प्रयोग असंगत है।

वादी का कहना है—अंकुर बीज का उपमर्द–विनाश करके उत्पन्न होता है–'उपमृद्य प्रादुर्भावात्'। यह कथन युक्त नहीं है; क्योंकि बीज का जो उपमर्दन करता है, वह उपमर्द के अनन्तर उत्पन्न हो, यह असंगत है, वह तो उपमर्दन-काल में विद्यमान रहेगा, उसके उत्पन्न होने का प्रश्न नहीं उठता। जिसका प्रादुर्भाव होना है, वह अभी अविद्यमान है, उसके द्वारा बीज का उपमर्द होना बताना सर्वथा निराधार है। जो स्वयं नहीं, वह उपमर्द कैसे करेगा ?

यदि कहाजाय, उपमर्द एक कार्य है, वह अविद्यमान अंकुर से होजाता है। अर्थात् अंकुर का अभाव बीजोपमर्द को उत्पन्न करता है; यह स्थिति अभाव से कार्योत्पत्ति की पोषक है। यह कथन भी ठीक नहीं; पहली बात है–कार्य-उपमर्द-स्वरूप से अभाव है, उसका कारण अंकुराभाव बताया; यह अभाव से अभाव की उत्पत्ति का निर्देशक है, भाव की नहीं। दूसरी बात है–जिस काल में अविद्यमान अंकुर [अंकुराभाव] बीज का उपमर्द करता है, उससे पहले वह विद्यमान रहता है, तब उपमर्द क्यों नहीं करता? यदि उपमर्दकाल में सहयोगी कारणान्तरों की उपस्थिति को आवश्यक मानाजाता है, तो अभाव से भाव की उत्पत्ति का सिद्धान्त उखड़जाता है, क्योंकि उपमर्द के सहयोगी कारणान्तर–मिट्टी, नमी, गरमी (ऊष्मा) आदि सभी भावरूप हैं। वस्तुतः बीज तथा बीज के सहयोगी वे भावरूप कारण, भावरूप अंकुर–कार्य के उत्पादक होते हैं। उन्हें अंकुराभाव का सहयोगी बताकर बीजोपमर्द का कारण कहना वस्तुस्थिति का शीर्षासन करदेना है। इसलिये अभाव से भाव की उत्पत्ति का पक्ष अत्यन्त शिथिल है ॥ १५ ॥

अभाव से भावोत्पत्ति में व्याघात-दोष नहीं—पूर्वोक्त व्याघात-दोष के परिहार की पूर्वपक्षी-भावना को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

नातीतानागतयोः कारकशब्दप्रयोगात् ॥ १६ ॥ (३६०)

[न] नहीं (उक्त दोष, मेरे पक्ष में) [अतीतानागतयोः] अतीत और अनागत कार्यों के विषय में [कारकशब्दप्रयोगात्] कारक शब्दों के प्रयोग से।

अतीत और अनागत पदार्थों के विषय में कर्त्तृत्व आदि के बोधक कारक शब्दों का प्रयोग देखाजाता है। भविष्य में होनेवाले पुत्र को लक्ष्यकर प्रयोग होता है–'पुत्रो जनिष्यते'–पुत्र उत्पन्न होगा। यहाँ अनागत पुत्र में कर्त्ता कारक का प्रयोग है। अन्य प्रयोग है–'जनिष्यमाणं पुत्रं अभिनन्दति'–उत्पन्न होनेवाले पुत्र का विचार कर पिता प्रसन्न होता है। यहाँ अनागत पुत्र का कर्मकारक में प्रयोग है। ऐसे ही एक अन्य प्रयोग है–'जनिष्यमाणस्य पुत्रस्य नाम करोति' उत्पन्न होनेवाले पुत्र का नाम रखलेता है। पुत्र अभी हुआ नहीं, नाम पहले निश्चित कर लिया। यहाँ अविद्यमान अनागत पुत्र का सम्बन्ध-कारक में प्रयोग है। इसीप्रकार अतीतकालविषयक प्रयोग देखेजाते हैं–'अभूत् कुम्भः'–घड़ा था, यहाँ अविद्यमान अतीतकालिक घट का कर्त्ता कारक में प्रयोग है। अन्य प्रयोग है–'भिन्नं कुम्भं अनुशोचति' अभी रजापुर[1] से नया घड़ा लाया था, बरांडे की मुण्डेल पर रक्खा था, तेज़ आँधी का झोका आया, वह गिरकर फूट गया, उसका बड़ा दुःख है। यहाँ अविद्यमान अतीत घट का कर्म कारक में प्रयोग है। ऐसे

---

१. **ग़ाज़ियाबाद के समीप रज़ापुर गाँव में निर्मित घड़ों के अन्दर पानी बहुत ठण्डा रहता है। यह उस ग्राम की मिट्टी की विशेषता है।**

ही एक प्रयोग है–'भिन्नस्य घटस्य कपालानि'–टूटे हुए घड़े के ये खिपरे पड़े हैं। अतीत घट का सम्बन्ध-कारक में यह प्रयोग है। अन्य प्रयोग है–'अजाताः पुत्राः पितरं तापयन्ति'–अनुत्पन्न पुत्र माता-पिता को कष्ट देते हैं। यहाँ अविद्यमान पुत्र का कर्त्ता-कारक में प्रयोग है।

इसप्रकार के प्रयोग बहुतायत से लोक में देखेजाते हैं; ये सब गौण प्रयोग होते हैं। इनके गौण अथवा भाक्त होने का प्रयोजक–आनन्तर्य है–अनन्तर होना। कुछ काल अनन्तर होनेवाले पुत्र, एवं कुछ काल बीती घटना में ऐसे प्रयोगों का होना लोकव्यवहार के अनुकूल है। इसी आनन्तर्य-सामर्थ्य के आधार पर उत्पन्न होनेवाला अंकुर बीज का उपमर्द करता है—'प्रादुर्भविष्यन् अंकुरो बीजं उपमृद्नाति'–ऐसा प्रयोग सम्भव है। इसमें किसीप्रकार के दोष की उद्भावना नहीं कीजानी चाहिये। फलतः अविद्यमान अनागत अंकुर में कर्त्ता कारक का प्रयोग दोषपूर्ण नहीं है॥ १६ ॥

बीजविनाश से अंकुरोत्पत्ति सम्भव नहीं—उक्त दोषपरिहार का आचार्य सूत्रकार निराकरण करता है—

न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ॥ १७ ॥ (३६१)

[न] नहीं (युक्त, उक्त दोष-परिहार), [विनष्टेभ्यः] नष्ट हुए बीजों से [अनिष्पत्तेः] उत्पत्ति न होने से (अंकुरों की)।

यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानीजाती है, और उसमें बीज-विनाश से अंकुरोत्पत्ति का दृष्टान्त दियागया। ऐसी स्थिति में अंकुरोत्पत्ति के लिये बीज की आवश्यकता क्या है ? बीज का न होना अथवा हुए बीज का विनष्ट होजाना –दोनों अवस्थाओं में बीज का अभाव समान है। तब अंकुर की उत्पत्ति विना बीज के होजानी चाहिये। परन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं। कोई किसान नष्ट बीज को बोने के लिये ग्रहण नहीं करता। नष्ट हुए पिता आदि से पुत्र उत्पन्न होता नहीं देखाजाता। यह माना कि अविद्यमान वस्तु में कारक पदों का भाक्त (गौण) प्रयोग होसकता है; परन्तु ऐसा प्रयोग अविद्यमान (अकारण) वस्तु में कार्यजननशक्ति का आपादक नहीं होसकता। वह शक्ति तो विद्यमान (भावरूप) कारणतत्त्व में ही निहित रहती है। अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति बताना सर्वथा अप्रामाणिक है।

जहाँतक अतीत या अनागत अविद्यमान अर्थ में कारक पदों के प्रयोग की बात है, वह भी प्रस्तुत प्रसंग में सहायक नहीं है। क्योंकि वहाँ कारक-पद अनन्तर होनेवाले कार्य के प्रति कर्त्तृत्व का बोधन कराता है। जनिष्यमाण पुत्र में कारक-चिह्न अथवा कारक-विभक्ति जन्म के अनन्तर होनेवाले नामकरण अथवा प्रसन्नता आदि के प्रति कर्त्तृत्व का बोधक है, जो सर्वथा सम्भव है।

परन्तु प्रकृत में अंकुर की उत्पत्ति से पहले होनेवाले बीज-उपमर्द के प्रति अंकुर में कर्तृत्व का बोधन होता है, जो सर्वथा असम्भव है, क्योंकि अंकुर का तबतक अस्तित्व नहीं। फलतः अभाव से भाव की उत्पत्ति का विचार नितान्त निराधार है ॥ १७ ॥

अभावकारणवादी भाव और अभाव के कार्य-कारणभाव में पूर्वापरक्रम (कारण पूर्व, कार्य अपर; बीज-विनाश पूर्व, अंकुर अपर; विनाश के अनन्तर अंकुर का उत्पन्न होना, ऐसे क्रम) का हेतुरूप से उपन्यास करता है। तात्पर्य है-कारण-कार्य का पूर्वापरभावक्रम निश्चित है। इसे स्वीकार करते हुए सूत्रकार अभाव से भाव की उत्पत्ति को प्रामाणिक नहीं मानता। इसके अनुसार सूत्रकार विवेचन प्रस्तुत करता है—

क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ॥ १८ ॥ (३६२)

[क्रमनिर्देशात्] 'क्रमनिर्देश' से बीज-हेतु का [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध नहीं है।

बीजविनाश के अनन्तर अंकुर उत्पन्न होता है। बीज की आकृति, अथवा उसका जैसा अवयवसन्निवेश (बनावट) है, उसके लोप हुए बिना अंकुर की आकृति का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं होता। परन्तु केवल इतने से भाव और अभाव का कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होजाता। अन्यथा स्थल में कमल के बीज का अभाव होने से वहाँ कमल उत्पन्न होजाया करे। ऐसी दशा में कारणदेश को छोड़कर प्रत्येक वस्तु का सर्वत्र प्रादुर्भूत होजाना प्राप्त होता है, जो असम्भव है। इसलिये भाव-अभाव का कार्य-कारणभाव सर्वथा अमान्य है; परन्तु बीज-विनाश और अंकुरोत्पत्ति के पूर्वापरक्रम को स्वीकार करने में सिद्धान्त-पक्ष को कोई बाधा नहीं है। अभावकारणवादी उपमर्द-प्रादुर्भाव के इस क्रम को अभाव से भाव की उत्पत्ति में हेतु कहता है, जो [क्रम] प्रत्यक्षसिद्ध है।

सिद्धान्तपक्ष उस क्रम एवं उसकी प्रत्यक्षसिद्धता का प्रतिषेध नहीं करता। यह स्पष्ट देखाजाता है बीज का जैसा अवयवसन्निवेश है, उसमें अवयवों का पहला संयोग नष्ट होजाता है; इससे बीज की पूर्व-आकृति अथवा रचना निवृत्त होजाती है; तथा उन अवयवों—एवं उनके सहयोगी अन्य अपेक्षित द्रव्यों—का विशिष्ट संयोग एक नई रचना को प्रकट करदेता है। इसप्रकार वह बीज पहली रचना को छोड़कर अन्य रचना के रूप में अभिव्यक्त होजाता है। इस क्रमानुसार बीज से अंकुर उत्पन्न होता है। उस समय अंकुर के साथ बीज के कतिपय अवयव संयुक्त हुए दिखाई देते हैं, जो इस तथ्य के प्रमाण हैं कि बीजावयवों से अंकुर आकृति उभर आई है। इसलिये अंकुर की उत्पत्ति के कारण बीजावयवों से अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हैं। यह कारणता उपादान अथवा समवायि-कारण का निर्देश

करती है; अंकुर के अन्य कारणों का इससे प्रतिषेध नहीं होता। प्रत्येक बीज दो भागों में देखाजाता है, जो आपस में घनीभूत होकर सटे रहते हैं। बीज जब भूमि में बोदियाजाता है, तब जल, भूमि, ऊष्मा का सहयोग पाकर बीज के दोनों भागों का घनीभाव शिथिल होकर मध्यगत मींगी से अंकुर को उभरने का अवसर देता है। बीज पहली अवस्था को छोड़कर अवस्थान्तर में दिखाई देता है। यह अवस्थाओं का पूर्वापरीभाव ही 'क्रम' है। इसीको बीज का उपमर्द कहाजाता है। इसमें बीज अपने बीज-भाव को छोड़ नहीं देता। वह अबीज नहीं होजाता। अंकुर निकल आने पर कोई भी व्यक्ति अंकुर के साथ बीजावयवों को लगाहुआ देखसकता है। इस सब विवेचन से भावरूप कार्य का अभाव उपादान अथवा समवायि-कारण है, इस मान्यता का निराकरण होजाता है ॥ १८ ॥

ईश्वर कारण है फलोत्पत्ति में—पदार्थों के कार्य-कारणभाव के विषय में आचार्य सूत्रकार अन्य एक विचार को प्रस्तुत करता है—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥ १९ ॥ (३६३)

[ईश्वरः] ईश्वर [कारणम्] कारण है, [पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्] पुरुष-कर्मों की अफलता देखेजाने से।

यह पुरुष चेष्टा अथवा कर्म करता हुआ अपनी चेष्टाओं व कर्मों का अवश्य फल प्राप्त करलेता हो, ऐसा नहीं है। इससे अनुमान होता है—पुरुष-कर्मों के फल-प्राप्ति की सिद्धि अन्य किसी के अधीन है। जिसके अधीन है, वह ईश्वर है। फलोत्पत्ति के अनुकूल ईश्वरेच्छा के बिना पुरुषकर्म विफल रहते हैं। इसलिये फलसिद्धि का कार्य जिस ईश्वर के अधीन है, उसीको कार्यमात्र का कारण मानना चाहिये। पुरुषकर्मों के फलों की सिद्धि जगद्रचना के बिना सम्भव नहीं; जगद्रचना ईश्वराधीन है। अतः ईश्वर को सब कार्यों का कारण मानना उपयुक्त है ॥ १९ ॥

कर्म कारण, फलोत्पत्ति में—शिष्य आशंका करता है, पुरुष-कर्मों के अभाव में ईश्वर किसका फल देगा? फल कर्मों का मिलता है; ईश्वर को बीच में कारण क्यों मानाजाय? आचार्य ने आशंका को सूत्रित किया—

न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः ॥ २० ॥ (३६४)

[न] नहीं (युक्त, ईश्वर को कारण कहना), [पुरुषकर्माभावे] पुरुष-कर्मों के न होने पर [फलानिष्पत्तेः] फल की प्राप्ति–सिद्धि न होने से।

पुरुष को अपने किये कर्मों से फल की प्राप्ति होती है। यदि ईश्वर की इच्छा के अधीन पुरुष को फलों की प्राप्ति मानीजाय, तो पुरुष की चेष्टाओं एवं कर्मों के बिना फलप्राप्ति होनी चाहिये। यदि इसे स्वीकार कियाजाता है, तो यह [illegible]क्रमर्यादानुसार अकृताभ्यागम-दोष है, बिना कर्म किये फल का प्राप्त होना।

इसके अतिरिक्त पुरुषों की फलप्राप्ति में विविधता व न्यूनाधिकता होने से ईश्वर पर अन्याय एवं पक्षपात का दोष आरोपित होता है। लूला-लंगड़ा, अन्धा-काणा, बहरा-गूँगा, सबल-दुर्बल, सुन्दर-कुरूप, सुडौल-अष्टावक्र, धनी-निर्धन, विद्वान्-मूर्ख आदि विविध भेदों के रूप में पुरुष फलों को ईश्वर की इच्छा के अधीन पाता है, तो स्पष्ट ईश्वर अन्यायी, पक्षपाती कहाजायगा। ईश्वर ऐसा होना नहीं चाहिये। अतः कर्मों द्वारा फलप्राप्ति में ईश्वर को अन्तर्गत मानकर कार्य का कारण बताना व्यर्थ है॥ २०॥

ईश्वर कर्मफलदाता—आचार्य सूत्रकार ने उक्त आशंका का समाधान किया—

तत्कारितत्वादहेतुः॥ २१॥ (३६५)

[तत्-कारितत्वात्] ईश्वर द्वारा कारित-सम्पादित होने से (कर्मफल के), [अहेतुः] उक्त हेतु ठीक नहीं है।

पुरुष की फलप्राप्ति में ईश्वर को कारण बताने से पुरुष के किये कर्मों का प्रतिषेध नहीं होता। प्रत्युत ईश्वर उनको सफल बनाता है। कर्म करनेवाले पुरुष का इतना सामर्थ्य नहीं कि वह स्वकृत कर्मों की सफलता के लिये मूलभूत साधनों का सम्पादन करसके। मूलभूत साधन है-वर्तमान विश्व के रूप में पृथिवी आदि भूतों की रचना। पुरुष इन्हींके आधार पर स्वकृत कर्मों के फलों को प्राप्त करपाता है। विश्व की यह रचना ईश्वराधीन है, इसप्रकार पुरुष के कर्मों का फल ईश्वरकारित है।

कर्मफल ईश्वरकारित—इसके अतिरिक्त, अनन्त पुरुषों के अनन्त विविध कर्मों का लेखा-जोखा किसी एक पुरुष के ज्ञान में न होने से उसकी व्यवस्था का होना सम्भव नहीं। केवल सर्वज्ञ ईश्वर के ज्ञान में अनन्त कर्मों का लेखा-जोखा रहना सम्भव है। उसीके आधार पर पुरुषों के कर्मानुरूप फलों की व्यवस्था होती रहती है। इसप्रकार कर्मफलों का सम्पादन ईश्वर करता है। यदि ईश्वर यह सब न करे, तो पुरुष-कर्म विफल होजायेंगे। अतः उनको ईश्वरकारित मानना सर्वथा प्रामाणिक है।

यह समझने की बात है-ईश्वर की कृपा के विना पुरुष अपने कर्म करने में अक्षम रहता है। शरीरादि की प्राप्ति पर पुरुष कर्म करसकता है। यह सब विश्वरचना के विना असम्भव है। इसीकारण समस्त सत्य ज्ञान एवं समस्त पदार्थों का आदि मूल परमेश्वर को मानाजाता है। फलतः जिस हेतु के आधार पर उक्त आशंका कीगई है, वह वस्तुतः हेतु न होकर हेत्वाभास है। ईश्वर की कारणता को स्पष्ट करदियागया है; उसमें पुरुषकर्मों का अभाव नहीं मानागया। अतः उक्त हेतु स्वरूपसिद्ध हेत्वाभास होने से साध्य का साधक नहीं। इससे कार्यमात्र में ईश्वर की कारणता अबाधित है।

ईश्वर क्या है ?—ईश्वर है क्या ? विशिष्ट गुणयुक्त चेतन आत्मतत्त्व ईश्वर है। प्रस्तुत सूत्रों में 'पुरुष' पद का प्रयोग चेतन जीवात्म-तत्त्व के लिये हुआ है। सांख्य में इस पद का प्रयोग जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिये कियागया है। जैसा जीवात्मा चेतन तत्त्व है, वैसा चेतन तत्त्व परमात्मा है। उनके चेतन स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न, परिमाण है, एवं अधर्म, मिथ्याज्ञान, प्रमाद, राग, द्वेष आदि से अभिभूत होजाता है; इसके विपरीत परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परममहत्परिमाण, सत्यसंकल्प आदि है, तथा अधर्म आदि से कभी अभिभूत नहीं होता; यह जीवात्मा-परमात्मा का परस्पर अन्तर है। इसी भावना से योगदर्शन में पतञ्जलि ने बताया—"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" [१ । २४]। दुःख, शुभ-अशुभ कर्म, कर्मफल तथा आशय (अनादि काल से सञ्चित कर्मों का भण्डार) ये सब जीवात्मा के धर्म हैं। इनसे सर्वथा असंलग्न (पूर्णरूप से अछूता) जो चेतन आत्मतत्त्व-विशेष है, उसे ईश्वर समझना चाहिये। समाधिजन्य अष्टविध अणिमा आदि ऐश्वर्य उसकी तुलना में यत्किञ्चनमात्र हैं, तुच्छ हैं; क्योंकि ईश्वर जगद्रचना आदि अचिन्त्य कल्पनातीत कार्यों को संकल्प-मात्र से सम्पादित करदेता है, इसके लिये कोई क्रिया, कोई गति उसे नहीं करनी पड़ती।

संकल्पमात्र से सबका जनक होने के साथ उसका यह धर्म है, परम कर्त्तव्य है—वह प्रत्येक आत्मा [जीवात्मा] में वर्त्तमान धर्म-अधर्म की राशि को फलोन्मुखता के लिए प्रवृत्त करता है; तथा जगत् के उपादानकारण मूल तत्त्वों को प्रेरित कर वर्त्तमान पृथिवी आदि के रूप में भूत-तत्त्वों का निर्माण करता है। इस निर्माण में आत्माओं के कर्म फलप्राप्ति की अनुरूपता को बनाये रखने के लिए सहयोगी रहते हैं। विश्वप्रक्रिया में यह आवश्यक है कि जीवात्मा देहादि को प्राप्त कर शुभ-अशुभ कर्मों का अनुष्ठान करे; तथा परमात्मा इस सबके सम्पादन के लिए विश्व की रचना करे। परमात्मा का यह विश्वनिर्माण की पूर्णता का कार्य मानो उसके अपने किये कर्मों का फल हो, जिसमें उसके कर्त्तव्य का लोप न होकर पूर्णसम्पन्नता निहित रहती है। वस्तुतः यह उसका स्वभाव है।

वह ईश्वर विश्व का साक्षी और रक्षक है—जैसे पिता अपने अपत्यों (सन्तान) का, वैसे ईश्वर सब प्राणियों का। वह आत्मजातीय तत्त्व है, अन्य कोई प्रकार उसका सम्भव नहीं। उसका लिङ्गभूतधर्म अर्थात् उसकी पहचान का एक-मात्र साधन है—पूर्णज्ञान। इससे अतिरिक्त अन्य कोई पूर्ण परिचायक धर्म उसका नहीं है। तात्पर्य है—वह पूर्ण चेतनस्वरूप है। वेद उसको द्रष्टा, बोद्धा, सर्वज्ञाता ईश्वर कहता है। उसके पूर्ण ज्ञानस्वरूप में उसकी आनन्दरूपता अन्तर्निहित है।

विलक्षण जगत्-निर्माण से ज्ञानरूपता, तथा पूर्णकाम होने से आनन्दरूपता अभिलक्षित होती है। आगम बताता है–'यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः' [मुण्ड० १। १। ६] तथा 'द्रष्टा श्रोता, मन्ता, विज्ञाता' [बृ० ३। ७। २३] इत्यादि।

लौकिक प्रत्यक्ष-अनुमान-शब्द - प्रमाणों का जो विषय नहीं है, ऐसे निरूपाख्य-अलिंग ईश्वर का बुद्धि, सुख, इच्छा आदि आत्मलिंगों के द्वारा उपपादन कियाजाना अशक्य है। जीवात्म-कर्मों की अनुकूलता से ईश्वर जगत् का निर्माण करता है। जो वादी इस रचना को कर्मनिरपेक्ष कहते हैं, उनकी इस मान्यता में अपने किये कर्मों के फलों की प्राप्ति के लोप तथा अकृत की प्राप्ति–का दोष सामने आता है। इसका विस्तृत विवेचन 'देहादि सर्ग कर्मनिरपेक्ष होता है' प्रसंग [३। २। ६२-७५] में करदियागया है ॥ २१ ॥

भावोत्पत्ति अनिमित्तक—प्रत्येक कार्य विना कारण के होजाता है, ऐसे अकारणवाद का निर्देश आचार्य सूत्रकार ने किया—

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादि-दर्शनात् ॥ २२ ॥ (३६६)

[अनिमित्ततः] निमित्त के विना [भावोत्पत्तिः] भाव-कार्य की उत्पत्ति होती है [कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात्] काँटों की तीक्ष्णता आदि के देखेजाने से।

देह आदि कार्यों की उत्पत्ति विना कर्म-कारण के होजाती है, ऐसा मानलेना चाहिये। क्योंकि काँटों की तीक्ष्णता, पर्वत में होनेवाली धातुओं की विविधता, पत्थरों का चिकनापन आदि सबका कोई कर्म निमित्त नहीं देखाजाता। काँटे आदि के उपादान-तत्त्वों का कोई कर्म-कारण प्रतीत नहीं होता। इसलिए जैसे विना कर्म-निमित्त आदि के इन पदार्थों की रचना होजाती है, ऐसे देहादि सर्ग भी विना निमित्त के होसकता है ॥ २२ ॥

अनिमित्तक नहीं भावोत्पत्ति—शिष्यों को उस दिशा में शिक्षित करने के लिए आचार्य ने उक्तवाद का प्रौढ़िवाद से प्रत्याख्यान किया—

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः ॥ २३ ॥ (३६७)

[अनिमित्तनिमित्तत्वात्] अनिमित्त के निमित्त होने से [न] नहीं [अनिमित्ततः] विना निमित्त से (कार्योत्पत्ति)।

वादी ने कहा है–'अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः'–अनिमित्त से भाव (कार्य) उत्पन्न होता है। जिससे जो उत्पन्न होता है, वह उसका निमित्त है। अनिमित्त से उत्पन्न होने के कारण, कार्य का वही निमित्त मानाजायगा। इसलिए कार्य की उत्पत्ति को अनिमित्त नहीं कहाजासकता।

अकारणवादी द्वारा प्रस्तुत–उक्त उत्तर के–निराकरण को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ॥ २४ ॥ (३६८)

[निमित्तानिमित्तयोः] निमित्त और अनिमित्त के [अर्थान्तरभावात्] परस्पर भिन्न अर्थ होने से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध युक्त नहीं है (उक्त अकारणवाद का)।

निमित्त अन्य होता है, अनिमित्त अन्य। निमित्त सद्वस्तु है, किसी कार्य का प्रयोजक; अनिमित्त उसका अभाव है। भाव और अभाव एक नहीं होसकते। अनिमित्त अर्थात् निमित्त का अभाव किसीका निमित्त अथवा स्वयं निमित्तरूप नहीं होसकता। यदि उसको (निमित्ताभावको) कारण मानाजाता है, तो यह अभावकारणवाद-पक्ष की सीमा में चलाजाता है, जो एक अतिरिक्त वाद है [४। १। १४-१८]। प्रस्तुत पक्ष उससे भिन्न है, जिसका तात्पर्य है–कार्य की उत्पत्ति बिना कारण आकस्मिक होजाती है। इसलिए गतसूत्र में अनिमित्त को निमित्त कहकर इस वाद का जो प्रतिषेध किया है, वह संगत नहीं है। जैसे किसी ने कहा–'अनुदकः कमण्डलुः'–पात्र में जल का अभाव है। यह जलाभाव स्वयं जल नहीं होसकता। ऐसे ही निमित्ताभाव निमित्त नहीं होसकता।

सूत्रकार ने इस वाद का निराकरण-सूत्र नहीं लिखा। यह वाद अभाव-कारणवाद [४। १। १४-१८] एवं अकर्मकारणवाद [३। २। ६२-७५] के अन्तर्गत आजाता है। उन वादों के प्रत्याख्यान से इस वाद का प्रत्याख्यान अनायास समझलियेजाने के कारण सम्भवतः सूत्रकार ने स्वयं यहाँ उत्तर-सूत्र लिखने की उपेक्षा करदी हो। कतिपय विद्वानों की ऐसी कल्पना है–कदाचित् आचार्य ने सूत्र लिखा होगा, परन्तु भाष्यकार वात्स्यायन काल से पहले वह अज्ञातकारणवश खण्डित होगया। ऐसी कल्पना का कोई उपयुक्त आधार प्रतीत नही होता। भाष्यकार वात्स्यायन ने ऐसा संकेत दिया है कि 'अकर्मनिमित्तवाद' के प्रत्याख्यान से इस वाद का प्रत्याख्यान समझलेना चाहिये ॥ २४ ॥

सर्वानित्यत्ववाद—इसके अनन्तर आचार्य सूत्रकार अन्य वाद को प्रस्तुत करता है—

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥ २५ ॥ (३६९)

[सर्वम्] सब [अनित्यम्] अनित्य है, [उत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात्] उत्पत्ति एवं विनाश-धर्मक होने से।

अनित्य का स्वरूप क्या है? जो कभी हो, और कभी न हो, वह अनित्य है। उत्पत्तिधर्मक पदार्थ उत्पन्न होने से पहले नहीं रहता। ऐसे ही विनाशधर्मक पदार्थ का कभी विनाश न होता हो, ऐसा नहीं है। तात्पर्य है–उत्पत्ति से पहले पदार्थ नहीं रहता; उत्पन्न होने के अनन्तर कालान्तर में अवश्य उसका विनाश

होजाता है। यह पदार्थ का कभी होना और कभी न होना उसकी अनित्यता का प्रयोजक है।

सूत्र में कहा है–'सर्वं अनित्यम्' सब अनित्य है। वह 'सर्व' क्या है? शरीर आदि भौतिक पदार्थ तथा बुद्धि सुख-दुःख आदि अभौतिक पदार्थ 'सर्व' पद से ग्राह्य हैं। समस्त विश्व इन्हीं दो भागों में विभक्त है। कुछ पदार्थ भौतिक हैं, कुछ अभौतिक। पदार्थ की तीसरी कोई विधा नहीं। ये दोनों प्रकार के पदार्थ उत्पत्ति-विनाशधर्मक देखेजाते हैं। इसलिए सबकी अनित्यता प्रमाणित होती है ॥ २५ ॥

सूत्रकार प्रथमनिर्दिष्ट रीति पर उक्त वाद का निराकरण करता है—

नानित्यतानित्यत्वात् ॥ २६ ॥ (३७०)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [अनित्यतानित्यत्वात्] अनित्यता के नित्य होने से।

सब अनित्य है, इस कथन से यह परिणाम स्पष्ट होता है, सब पदार्थों में विद्यमान अनित्यता सदा बनी रहती है। यदि सबकी अनित्यता सदा रहती है, तो वह नित्य होगई। उसके नित्य होने से यह कथन असंगत होगया कि सब अनित्य है। यदि अनित्यता को अनित्य मानाजाता है, तो अनित्य होने के कारण उसके न रहने पर सब नित्य मानाजाना चाहिये। ऐसी स्थिति में सर्वानित्यत्ववाद को प्रामाणिक नहीं कहाजासकता ॥ २६ ॥

सर्वानित्यत्ववादी द्वारा कियेगये उक्त आपत्ति के समाधान को आचार्य ने सूत्रित किया—

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ॥ २७ ॥ (३७१)

[तद्-अनित्यत्वम्] अनित्यता का अनित्य होना मान्य है, [अग्नेः] आग के [दाह्यम्] जलने योग्य पदार्थ को [विनाश्य] विनष्ट कर 'जलाकर' [अनु-विनाशवत्] पश्चात् स्वयं विनाश के समान।

लोक में यह देखाजाता है कि आग अपने दाह्य पदार्थ को जलाकर अन्त में बुझ जाती है। दाह्य पदार्थ को प्रथम नष्ट कर फिर स्वयं नष्ट होजाती है। इसीप्रकार सबकी अनित्यता सबको विनष्ट कर–अनित्य बनाकर अन्त में स्वयं विनष्ट होजाती है। इस रीति पर सबकी अनित्यता के साथ स्वयं अनित्यता भी अनित्य बनी रहती है ॥ २७ ॥

अनित्यत्ववाद-निराकरण—आचार्य सूत्रकार ने उक्त समाधान का प्रत्याख्यान किया—

नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धि व्यवस्थानात् ॥ २८ ॥ (३७२)

[नित्यस्य] नित्य का [अप्रत्याख्यानम्] प्रत्याख्यान (निराकरण) नहीं (कियाजासकता) [यथोपलब्धि] उपलब्धि के अनुसार [व्यवस्थानात्] व्यवस्था होने से।

यह सर्वानित्यत्व-वाद किसी भी पदार्थ (प्रत्येक पदार्थ) के नित्य होने का निराकरण करता है। किन्तु नित्य का निराकरण सर्वथा अनुपपन्न है, अप्रामाणिक है। क्योंकि जो पदार्थ जैसा उपलब्ध होता है, उसीके अनुसार उसकी व्यवस्था कीजानी चाहिये। जो पदार्थ प्रमाण के अनुसार उत्पत्तिविनाशधर्मक उपलब्ध होता है, उसे अनित्य मानाजाना चाहिये। इसके विपरीत प्रमाण द्वारा जो ऐसा नहीं जानाजाता, उसे नित्य मानना होगा।

परमसूक्ष्म परमाणुरूप में पृथिवी आदि भूत, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, ये सब द्रव्य तथा इनमें समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले) कतिपय गुण (परमाणु-परिमाण, परममहत्परिमाण, नित्यद्रव्यवृत्तिसंयोग—परमाणु-द्वयसंयोग को छोड़कर आदि), एवं सामान्य, विशेष, समवाय, ये पदार्थ किसी प्रमाण से उत्पत्तिविनाशधर्मक नहीं जानेजाते। इसलिए ये सब पदार्थ नित्य हैं। फलतः सब पदार्थों को बिना किसी प्रमाण के अनित्य नहीं कहाजासकता ॥ २८ ॥

सर्व-नित्यत्ववाद—आचार्य सूत्रकार अन्य एक वाद का उपक्रम करता है—

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥ २९ ॥ (३७३)

[सर्वम्] सब [नित्यम्] नित्य है, [पञ्चभूतनित्यत्वात्] पाँच भूतों के नित्य होने से।

समस्त विश्व पाँच भूतों से बना है, इसलिए यह सब भूत-स्वरूप है; भूतों से अतिरिक्त कुछ नहीं। भूत सब नित्य हैं, क्योंकि भूतों का पूर्ण उच्छेद सर्वथा अनुपपन्न है; किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। इसलिए पदार्थमात्र को नित्य मानना उपयुक्त है ॥ २९ ॥

सूत्रकार ने उक्त वाद का निराकरण किया—

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ ३० ॥ (३७४)

[न] नहीं (युक्त, उक्त वाद), [उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः] उत्पत्ति और विनाशकारणों की उपलब्धि से (अनेक पदार्थों के)।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से घट आदि अनेक पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश के कारण उपलब्ध होते हैं। यह स्थिति सबको नित्य मानने का विरोध करती है। जिन पदार्थों के उत्पत्तिविनाशकारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध हैं, वे स्पष्टतः अनित्य हैं। इसलिए पदार्थमात्र को नित्य कहना प्रामाणिक नहीं माना-जासकता ॥ ३० ॥

सर्वनित्यत्ववादी द्वारा कियेगये–उक्त निराकरण के–प्रतिवाद को आचार्य ने सूत्रित किया—

तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ॥ ३१ ॥ (३७५)

[तद्-लक्षणावरोधात्] भूत-लक्षण के अन्तर्गत आजाने से (सब पदार्थों के), [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध युक्त नहीं (सबकी नित्यता का)।

जिन पदार्थों के उत्पत्ति-विनाशकारण उपलब्ध हैं, वे सब भूत-लक्षण के अन्तर्गत आजाते हैं; अर्थात् वे सब भूतमात्र हैं; अथवा भूतमय हैं, उनसे अतिरिक्त नहीं। पाँच भूतों के नित्य होने से सबकी नित्यता का उपपादन कियागया है। भले ही किन्हीं पदार्थों के उत्पत्ति-विनाशकारण उपलब्ध हों, परन्तु भूतों के कभी उच्छिन्न न होसकने के कारण समस्त भूतमात्र का नित्य होना प्राप्त होता है। अतः सबकी नित्यता का प्रतिषेध युक्त नहीं है ॥ ३१ ॥

नित्यत्ववाद-निराकरण—आचार्य सूत्रकार उक्त कथन का निराकरण करता है—

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ॥ ३२ ॥ (३७६)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [उत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः] उत्पत्ति और उत्पत्ति के कारणों की उपलब्धि से।

लोक में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से यह जानाजाता है कि किसी कार्य की उत्पत्ति उसके समानगुणवाले कारण से होती है। कार्य की उत्पत्ति और उसके कारणों की उपलब्धि–ये दोनों बातें पदार्थमात्र के नित्यविषयक नहीं हैं। उत्पत्ति के ज्ञान और उत्पत्ति के कारणों के ज्ञान का अपलाप नहीं कियाजासकता। क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणजन्य ज्ञान निर्विषय नहीं होता। ज्ञानसामर्थ्य से उसके विषय–कार्योत्पत्ति और उसके कारणों–का अस्तित्व निर्भ्रान्त है। इससे यह निश्चित होजाता है–कोई समानगुण कार्य अपने समानजातीय कारण से उत्पन्न होता है। मिट्टी से उत्पन्न घट मृत्समानजातीय अथवा मृत्समानगुण होने से मृद्रूप कहाजाता है। इसीप्रकार जो कार्य भूतों से उत्पन्न होते हैं, वे भूतात्मक हैं। भूतलक्षण की सीमा में उनका अन्तर्गत होना उपपन्न है। परन्तु उत्पाद-विनाशशील पदार्थ का–भूतलक्षण के अन्तर्गत होने से–नित्य होना सम्भव नहीं है; क्योंकि कार्य के उत्पत्ति और विनाश उसके नित्य मानेजाने में बाधक हैं।

इसके अतिरिक्त किसी कार्य की उत्पत्ति एवं विनाश के लिए–इनकी अभिलाषा से प्रयुक्त हुए कर्त्ता का–प्रयत्न देखाजाता है। उस प्रयत्न के फलस्वरूप कार्य का उत्पन्न होना और विनष्ट होना देखाजाता है। यह स्थिति सबके नित्य होने का बाधक है। इसलिए सबका नित्य होना सम्भव नहीं। इसके साथ यह ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक अवयवी उत्पत्ति-विनाशधर्मवाला होता है, यह

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। ऐसी अवस्था में अवयवी पदार्थ के अनित्य होने का निराकरण नहीं कियाजासकता।

'सब नित्य है' इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए 'पञ्चभूतनित्यत्व' एवं 'तल्लक्षणावरोध' हेतु दियेगये। परन्तु शब्द, कर्म, बुद्धि, सुख, दुःख आदि पदार्थों में ये हेतु अव्याप्त हैं। 'सर्वं नित्यम्' इस प्रतिज्ञा की सीमा में शब्द आदि आजाते हैं; परन्तु हेतु की सीमा में नहीं आते। हेतु इनमें अव्याप्त है, हेतु की व्याप्ति शब्दादि के साथ नहीं। जहाँ-जहाँ पञ्चभूतत्व है, वहाँ शब्दत्व आदि हैं, ऐसी व्याप्ति सम्भव नहीं। साध्याधिकरण में अव्याप्त हेतु अनैकान्तिक होता है, अतः साध्य का साधक नहीं होसकता।

उत्पत्ति और उसके कारणों की उपलब्धि के विषय में यह आशंका कीजासकती है कि जैसे स्वप्नज्ञान में विषय न होते हुए विषय का केवल अभिमान होता है, जो भ्रम-रूप है, ऐसे ही उत्पत्ति और उसके कारणों की उपलब्धि केवल मिथ्या उपलब्धि है। विषय के न होने पर वहाँ उसका [विषय के अस्तित्व का] अभिमानमात्र है। तात्पर्य है–स्वप्न के समान विषय के न होने पर भी उपलब्धि होना सम्भव है। उत्पत्ति और उसके कारण की उपलब्धि भी ऐसी ही है। इससे अनित्यत्व का कोई विषय न होने से सबका नित्यत्व सिद्ध होजाता है।

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या के प्रारम्भ में यद्यपि उपलब्धि के विषय की प्रत्यक्षादि द्वारा प्रामाणिकता एवं अप्रत्याख्येयता सिद्ध कर इस आशंका का उपयुक्त समाधान करदियागया है, परन्तु आशंका के अनुरूप प्रौढि (तुर्की-ब-तुर्की) समाधान इसप्रकार कियाजासकता है–स्वप्न के समान जैसे उत्पत्ति और उसके कारणों की उपलब्धि के विषय को मिथ्या बतायागया, ऐसे ही भूतोपलब्धि के विषय को मिथ्या क्यों न समझाजाय? पृथिवी आदि भूतों की उपलब्धि को स्वप्न के समान भ्रान्त मानलेना होगा। तब भूत स्वरूपतः मिथ्या होंगे; उनके नित्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यदि कहाजाय–पृथिवी आदि के अभाव में सबप्रकार के व्यवहार का विलोप होजायगा, तो उत्पत्ति और उसके कारणों की उपलब्धि के विषय के अभाव में भी सबप्रकार के व्यवहार का विलोप प्रसक्त होगा। इसलिए स्वप्नविषय के अभिमान के समान उपलब्धि का विषय अभिमानमात्र है, मिथ्या है; यह कथन असंगत है। नित्य पदार्थ सब अतीन्द्रिय हैं, प्रत्यक्ष से उनकी उपलब्धि होती नहीं; उत्पत्ति-विनाश की उपलब्धि के विषय को नित्यत्ववादी स्वीकार नहीं करता। तब प्रत्यक्ष उपलब्धि का होना सम्भव ही न होगा। कोई भी प्रत्यक्षादि-जन्यज्ञान निर्विषय नहीं होसकता। क्योंकि उपलब्धि [प्रत्यक्षादिजन्य ज्ञान] का अपलाप नहीं कियाजासकता, इसलिए उसके विषय-भूत प्रत्यक्षयोग्य अनित्य

पदार्थ को स्वीकार करना आवश्यक है। इससे सबका नित्यत्व असिद्ध होजाता है ॥ ३२ ॥

नित्यत्ववादसिद्धि, प्रकारान्तर से—सबकी नित्यता का उपपादन एक अन्य प्रकार से सम्भव है। वह इसप्रकार है–उपादान कारण अवस्थित रहता है, उसके कुछ धर्म निवृत्त अर्थात् अन्तर्निहित होजाते हैं, और अन्य कतिपय धर्म उभर आते हैं। इसप्रकार धर्मों का अपाय और उपजन ही विनाश तथा उत्पत्ति का विषय है। जिसका उपजन-प्रादुर्भाव होता है, वह उससे पहले भी [कारणरूप में] विद्यमान रहता है। जिसका अपाय-तिरोभाव होता है, वह अपेत होकर भी [कारणरूप में] विद्यमान रहता है। इसप्रकार सब पदार्थों की नित्यता सिद्ध होती है। तात्पर्य है–सर्वात्मना किसी पदार्थ का कभी विनाश नहीं होता, न कोई सर्वात्मना नया पदार्थ बनता है। यह प्रकार पदार्थ की नित्यता का साधक है। आचार्य सूत्रकार ने इसका निराकरण प्रस्तुत किया—

न व्यवस्थानुपपत्तेः ॥ ३३ ॥ (३७७)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [व्यवस्थानुपपत्तेः] व्यवस्था की अनुपपत्ति से।

नित्यत्वसिद्धि-प्रकारान्तर का निरास—यदि यह मानाजाता है–सदा अवस्थित उपादान द्रव्य के कुछ धर्मों का प्रादुर्भाव उत्पाद है, और कुछ धर्मों का तिरोभाव विनाश; तथा प्रादुर्भाव के पूर्व एवं तिरोभाव के पश्चात् भी वे धर्म विद्यमान रहते हैं; तो इस मान्यता में उत्पाद-विनाश की व्यवस्था उपपन्न नहीं होसकती, क्योंकि उत्पन्न पदार्थ उत्पत्ति से पूर्व एवं विनष्ट पदार्थ विनाश के पश्चात् भी विद्यमान हैं; तब यह धर्म प्रादुर्भूत हुआ, और यह धर्म तिरोहित हुआ; ऐसी व्यवस्था सर्वथा अनुपपन्न होजाती है। वे धर्म कार्य के उपादान द्रव्य के साथ प्रत्येक अवस्था में निरन्तर विद्यमान रहते हैं, तब किसका कैसा प्रादुर्भाव? और कैसा तिरोभाव?

इस विषय में कालव्यवस्था भी उपपन्न नहीं होती। धर्म और धर्मी के सदा विद्यमान रहने से अमुक काल में धर्म का उपजन [प्रादुर्भाव-उत्पाद] और अमुक काल में धर्म की निवृत्ति [तिरोभाव-विनाश] होती है, यह व्यवस्था अनुपपन्न होगी; क्योंकि धर्म सदा समानरूप से विद्यमान रहता है।

इसीप्रकार किसी धर्म से सम्बद्ध अतीत–अनागत काल की व्यवस्था भी नहीं बनसकती; जबकि लोक में उत्पाद-विनाशशील पदार्थों के साथ अतीत-अनागत व्यवहार होता है, जिसकी यथार्थता में सन्देह नहीं कियाजासकता। जब प्रत्येक पदार्थ के निरन्तर विद्यमान रहने से वह वर्त्तमान काल से सम्बद्ध है, तब अतीत-अनागत व्यवहार अनुपपन्न होगा, जो सर्वथा अवाञ्छनीय है।

उक्त मान्यता के विपरीत जब यह मानाजाता है कि अविद्यमान पदार्थ

का आत्मलाभ करना उपजन है, उत्पत्ति है, तथा विद्यमान पदार्थ की आत्म-हानि होजाना निवृत्ति है, विनाश है, तब उक्त दोष सिर नहीं उठाते। इस मान्यता में उत्पाद-विनाश की व्यवस्था, उत्पाद-विनाश के काल की व्यवस्था, तथा कार्य से सम्बद्ध कालकृत अतीत-अनागत व्यवहार की व्यवस्था सब उपपन्न होजाते हैं। इसलिए जो यह कहागया कि उत्पत्ति से पूर्व और विनाश के पश्चात् भी कार्य विद्यमान रहता है, वह सर्वथा अयुक्त है। इस आधार पर सब पदार्थों का नित्य सिद्ध कियाजाना सर्वथा असंगत व अप्रामाणिक है ॥ ३३ ॥

पृथक्त्ववाद—आचार्य सूत्रकार ने यथावसर अन्य एक वाद प्रस्तुत किया—

सर्वं पृथक् भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥ ३४ ॥ (३७८)

[सर्वम्] सब (पदार्थमात्र) [पृथक्] नाना हैं, [भावलक्षणपृथक्त्वात्] भाव लक्षणों के पृथक् (नाना) होने से।

सूत्र का 'भाव'-पद प्रत्येक उस वस्तुतत्त्व का बोधक है, जो अपनी स्वतन्त्र इकाई रखता है। 'लक्षण'-पद उसके स्वरूप एवं उसके वाचक पद का बोध कराता है। जगत् के सब पदार्थ नानारूप हैं; व्यवहार में आनेवाला कोई पदार्थ एकमात्र इकाई नहीं है; वह अनेक अवयवों का समुदायमात्र है, जो अवयव अपनी सत्ता में स्वयं स्वतन्त्र हैं। क्योंकि प्रत्येक भाव [सदात्मक पदार्थ] का अपना निजी स्वरूप तथा अपना-अपना अभिधान है, नाम है; अथवा कहना चाहिये प्रत्येक भाव का समाख्या शब्द-संज्ञा व वाचक पद—पृथक् है। प्रत्येक पद का अपना पृथक् वाच्य है। भावों के समस्त घट, पट आदि समाख्या-शब्द जिन घट, पट आदि अर्थों का निर्देश करते हैं, वे सब अनेक अवयवों का समूह हैं, जो गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा बुध्न [बर्तन की तली अथवा निम्नतम भाग], पार्श्वभाग, ग्रीवा आदि अनेक पदार्थों के रूप में विद्यमान रहता है। यह केवल उदाहरण-मात्र है; प्रत्येक व्यवहार्य वस्तु के विषय में यही स्थिति समझनी चाहिये। फलतः घट आदि पद एक अवयवी के रूप में किसी अर्थ का अभिलापन नहीं करते। घट आदि सब नानारूप हैं, यही वास्तविक स्थिति है।

यद्यपि सूत्रकार गौतम तथा भाष्यकार वात्स्यायन एवं अन्य व्याख्याकार आचार्यों ने प्रत्यक्ष-प्रमाण की परीक्षा के प्रसंग [२। १। ३२-३६] में विस्तार के साथ प्रमाणपूर्वक अवयवी की वास्तविकता को सिद्ध किया है। उसके अनुसार अवयवी की मान्यता निर्विवाद है। परन्तु सूत्रकार ने प्रावादुकों के विचार-विवेचन के इस प्रसंग में उसे पुनः स्मरण कराया है; तथा प्रस्ताव के अनुसार भिन्न प्रकार से उसका विवेचन किया है ॥ ३४ ॥

सर्वपृथक्त्ववाद का निराकरण—आचार्य सूत्रकार उक्त वाद का निराकरण करता है—

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ॥ ३५ ॥ (३७९)

[न] नहीं (युक्त, उक्त वाद), [अनेकलक्षणैः] अनेक अवयव एवं अन्य साधनों से [एकभावनिष्पत्तेः] एक पदार्थ की उत्पत्ति के कारण।

सूत्र के 'अनेकलक्षण' पद का अर्थ मध्यमपदलोपी समास के आधारपर— 'अनेकविधलक्षण' समझना चाहिये। अनेक अवयवों तथा विभिन्न पदवाच्य साधनरूप अर्थों से एक पदार्थ उत्पन्न होजाता है। घट एक अर्थ बुध्न, ग्रीवा आदि अवयवों–तथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, संयोग आदि पद वाच्य विभिन्न गन्ध आदि साधनों–से एक घटरूप अर्थ की उत्पत्ति होती है। यह घटरूप अर्थ गन्धादि गुणों से अतिरिक्त एक द्रव्य है। जैसे द्रव्य और गुण परस्पर भिन्न हैं, ऐसे ही अवयव और अवयवी परस्पर भिन्न होते हैं। गुण द्रव्य में आश्रित रहता है, तथा अवयवी अवयवों में आश्रित। आश्रय और आश्रित का भेद प्रमाणसिद्ध है। इसलिए गुण-गुणी एवं अवयव-अवयवी की परस्पर विभक्त स्थिति सर्वथा न्याय्य है। फलतः अवयवी को अवयवरूप नहीं मानाजासकता। एक घट आदि पदार्थ नानारूप न होकर एकमात्र इकाई है; यही तथ्य है॥ ३५ ॥

अवयवी-साधक युक्ति—लक्षण-नानात्व से वादी ने सब पदार्थों को नाना बताया। आचार्य सूत्रकार लक्षण की व्यवस्था से उक्त वाद का प्रतिषेध प्रस्तुत करता है—

लक्षणव्यवस्थानादेवाऽप्रतिषेधः ॥ ३६ ॥ (३८०)

[लक्षणव्यवस्थानात्] लक्षणों के व्यवस्थान-सद्भाव से [एव] ही, अथवा भी [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध अनुपपन्न है (अवयवी के एकत्व का; इससे नानात्व का प्रतिषेध उपपन्न होजाता है)।

एक अवयवीरूप भाव-पदार्थ नहीं है, ऐसा प्रतिषेध अयुक्त है, क्योंकि लोकव्यवहार में कोई संज्ञा-शब्द एक अर्थ के बोधन कराने में व्यवस्थित है। लक्षणों–संज्ञापदों एवं अवयवों के व्यवस्थित सद्भाव से अवयवी के एकत्व का प्रतिषेध अनुपपन्न है। 'घट' एक पद है, उसका वाच्य कम्बुग्रीव वाला एक अर्थ है। वह केवल परमाणु-समूह नहीं है। परमाणु अतीन्द्रिय है, उसका प्रत्यक्ष किसी इन्द्रिय से नहीं होता, परन्तु घट आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष प्रत्येक व्यक्ति करता है, जानता है। प्रसिद्ध लोकव्यवहार है–जिस घट को मैंने देखा, उसको छूरहा हूँ, तथा जिसको कभी पहले छुआ था, उसको देखरहा हूँ। यह अनुभव-व्यवहार परमाणु-समूहमात्र में असम्भव है। इसलिए जो पदार्थ इन्द्रियों से गृहीत होरहा है, वह एक है, वही अवयवी है।

यदि अवयवी कोई एक अतिरिक्त तत्त्व नहीं है, तो जिन तत्त्वों से घट का निर्माण होता है, उनके लिये 'अवयव' पद का प्रयोग असंगत होगा। किन्हीं

कारणतत्त्वों में 'अवयव' पद का प्रयोग अवयवी-सापेक्ष है। अवयव किसी अवयवी के कारण-तत्त्वों को कहाजासकता है। यदि 'अवयवी' कोई एक इकाई नहीं है, तो वे कारण-तत्त्व किसके अवयव कहलायेंगे ? अवयव-अवयवी सम्बद्ध पद हैं। किसी व्यवहार्य अर्थ को 'अवयव-समूह' कहकर 'अवयवी' की इकाई से नकार कियाजाना असम्भव है। उस दशा में 'अवयव-समूह' पद का प्रयोग ही निराधार होजायगा। इसलिए अवयवी की एकता का प्रतिषेध असंगत है।

" 'घट' आदि संज्ञावाचक पदों का प्रयोग अनेकों के समूह में होता है, किसी एक अर्थ में नहीं।" वादी का यह कथन भी युक्त नहीं है; क्योंकि समूह–एक-एक के समुच्चय को कहाजासकता है। यदि एक अर्थ नहीं है, तो समुच्चय किसका ? समूह को मानकर एक का निषेध करना परस्पर-विरोधी कथन है। एक के बिना समूह नहीं बनसकता; यदि समूह को मानें, तो एक का प्रतिषेध नहीं कियाजासकता। इसप्रकार वादी समूह में संज्ञाशब्द का प्रयोग मानकर जिसका प्रतिषेध करना चाहता है, उसी 'एक' को स्वीकार करलेता है; क्योंकि 'एक' के अस्तित्व को माने बिना समूह की कल्पना निराधार है। फलतः घटादि संज्ञावाच्य अर्थ को एक अवयवी न मानकर उसे समूहमात्र कहना सर्वथा निरर्थक एवं प्रमाणहीन वाद है, अतः त्याज्य है ॥ ३६ ॥

अभाववाद—आचार्य सूत्रकार प्रावादुकों के अन्य एक वाद को यथावसर प्रस्तुत करता है—

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥ ३७ ॥ (३८१)

[सर्वम्] सब [अभावः] अभाव है [भावेषु] भावों में [इतरेतराभावसिद्धेः] अन्योन्याभाव की सिद्धि से।

जितना पदार्थमात्र भावरूप में कहाजाता है, वह सब वस्तुतः अभावरूप है; क्योंकि प्रत्येक भाव का उससे अतिरिक्त समस्त भावों में अभाव रहता है। गौ अश्वादिरूप नहीं है, तथा गौ से अतिरिक्त अश्वादि पदार्थ गौ नहीं हैं। इसप्रकार गौ का अश्वादि समस्त पदार्थों में अभाव है; और अश्वादि समस्त पदार्थों का गौ में अभाव है। तब ये सब गौ आदि पदार्थ एक-दूसरे का रूप न होने से एक-दूसरे के अभावरूप हैं। इसप्रकार सबकी विभिन्नता अभाव में पिण्डीभूत होजाती है। तात्पर्य है–प्रत्येक तथाकथित भाव पदार्थ का अभाव से सामानाधिकरण्य है। फलतः सबको 'अभाव' कहने या मानने में कोई बाधा नहीं है।

प्रस्तुत प्रावादुक-विचार प्रकरण के प्रारम्भ [४।१।१४-१८] में अभाव की कारणता का प्रतिषेध कियागया है। यहाँ भाव को अभाव मानेजाने का विवेचन है।

वादी का यह कथन अत्यन्त शिथिल है, क्योंकि यह स्वयं अपना विरोध करता है। प्रतिज्ञावाक्य है–'सर्वं अभावः'–सब अभाव है। इसमें 'सर्व' पद अनेक

भाव-पदार्थों की अशेषता–सम्पूर्णता का बोध कराता है। यह सद्रूप पदार्थ का निर्देशक (सोपाख्य) है। प्रतिज्ञावाक्य में दूसरा पद 'अभावः' भावरूप पदार्थ के प्रतिषेध को कहता है, जो अभावरूप (निरुपाख्य) है, तुच्छ है। ये दोनों पद परस्पर-विरोधी अर्थ का निर्देश कररहे हैं–जो भाव है, वह स्वरूप से अभाव नहीं होसकता। इसप्रकार परस्पर-विरोधी होने से प्रतिज्ञावाक्य असंगत है। यदि 'सर्व'-पद को अभाव का निर्देशक मानाजाता है, तो भी विरोध वैसा ही बना रहता है, क्योंकि अभाव-प्रतीति से अनेक की अशेषता का बोध नहीं होसकता। परन्तु 'सर्वम्' पद से यह बोध होता है; अतः 'सर्व' को 'अभाव' नहीं कहाजासकता। फलतः विरोध स्पष्ट है।

इसके अतिरिक्त प्रतिज्ञा और हेतु का परस्पर-विरोध है। 'सर्वं अभावः' इस प्रतिज्ञावाक्य में भावमात्र का प्रतिषेध कियागया है। इसके अनुसार यदि 'सब अभाव' है, तो हेतु में 'भावेषु' पद का प्रयोग निराधार होजाता है। जब 'भाव' कुछ है नहीं, तो 'भावेषु' कथन किस आधार पर? यदि हेतुपद को स्वीकार कर 'भाव' का अस्तित्व मानाजाता है, तो 'सर्व अभावः' यह प्रतिज्ञा झूठी होजाती है। इसप्रकार ये प्रतिज्ञा और हेतु परस्पर-विरुद्ध होने से त्याज्य हैं। फलतः सबको अभाव कहना सर्वथा अनुपपन्न है ॥ ३७ ॥

भाव पदार्थ, अभाव नहीं—आचार्य सूत्रकार स्वयं उक्त वाद का निराकरण करता है—

न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ॥ ३८ ॥ (३८२)

[न] नहीं (युक्त, उक्त वाद) [स्वभावसिद्धेः] स्व-भाव (अपने अस्तित्व) की सिद्धि से [भावानाम्] भावों की।

सब कुछ अभाव या शून्य नहीं है; क्योंकि अपने अस्तित्व से स्व-रूप से प्रत्येक पदार्थ की विद्यमानता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होती है। भाव-पदार्थों का स्व-रूप अथवा स्व-धर्म क्या है? इसे समझना चाहिये।

द्रव्य, गुण, कर्म में सत्ता-सामान्य समवेत रहता है; इससे उनका सद्भाव सिद्ध होता है। इन पदार्थों को केवल अभाव-शून्य-तुच्छ या अलीक नहीं कहाजासकता। जो सत् है, उसका तुच्छ होना असम्भव है। द्रव्यों का क्रियावत्त्व और गुणवत्त्व विशेष-धर्म है। इसीप्रकार द्रव्यों में पृथिवी के धर्म हैं–गन्ध, रस, रूप, स्पर्श। अनन्तर द्रव्य, गुण, कर्म और इनमें सामान्य के अवान्तर अनन्त भेद हैं। ये सभी भाव पदार्थ हैं।

फिर सामान्य, विशेष, समवाय के अपने नित्यत्व आदि विशेष धर्म प्रमाणों के द्वारा जानेजाते हैं। यदि यह सब केवल अभाव हो, तो अभाव के तुच्छ–निरुपाख्य होने के कारण, तथा पूर्णरूप से एक प्रकार का होने के कारण वह पूर्वोक्त अर्थभेद का प्रत्यायक–बोधक नहीं होसकता। परन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों

का—यह तथ्यभूत अनन्त अर्थ-भेद—विषय होता है; इसलिये 'सब अभाव है' यह कथन असंगत है।

अथवा सूत्रार्थ का अन्य प्रकार इस रूप में समझना चाहिये—सूत्र के 'स्वभावसिद्धेः' पद में 'स्वभाव' का अर्थ 'स्व-रूप' है। गौ पद का प्रयोग होने पर इस पद से गोत्वजातिविशिष्ट पशु-विशेष द्रव्य का बोध होता है, अभावमात्र का नहीं। यदि सब अभाव है, गौ पद के प्रयोग से अभाव की प्रतीति होनी चाहिये; स्व-रूपविशेष की नहीं। परन्तु गौ पद के प्रयोग से द्रव्यविशेष की प्रतीति प्रमाण-सिद्ध है। अतः सबको अभाव बताना अयुक्त है।

सूत्रार्थ का अन्य प्रकार यह है—अश्वात्मना गौ का अभाव है, और गवात्मना अश्व का अभाव, अर्थात् गाय घोड़ा नहीं है; और घोड़ा गाय नहीं है; इसप्रकार सबके अभाव का उपपादन कियाजाता है। यदि वस्तुतः सब अभाव है, तो गवात्मना गौ का अभाव, और अश्वात्मना अश्व का अभाव क्यों नहीं कहाजाता? जब वादी गौ को गवात्मना सत् कहता है, और अश्वात्मना असत् बताता है, तब गौ का स्व-भाव से, स्व-रूप से अर्थात् गवात्मरूप से अस्तित्व सिद्ध होजाता है। इसीप्रकार अश्वात्मना अश्व का अस्तित्व सिद्ध होता है। वस्तु की परख का पहला कदम है, उसका अस्तित्व; उसका स्व-भाव, उसका स्व-रूप, उसकी उपेक्षा करके अन्य आधार से, अन्य रूप से उसके अस्तित्व को झुठलाना सर्वथा अन्याय्य एवं अप्रामाणिक है। फलतः पदार्थमात्र की स्व-रूप से विद्यमानता सिद्ध होती है।

यह आशंका कीजासकती है—यदि गौ आदि अभावरूप नहीं हैं, तो अश्वात्मना गौ का अभाव [—असन् गौः अश्वात्मना], एवं गवात्मना अश्व का अभाव [—असन् अश्वो गवात्मना] ऐसा प्रयोग तथा ऐसा ज्ञान कैसे होते हैं? ऐसे प्रयोग और प्रतीति का होना इस बात को प्रमाणित करते हैं कि प्रत्येक भाव का अभाव के साथ सामानाधिकरण्य है, अर्थात् जहाँ भाव की प्रतीति है, वहाँ अभाव विद्यमान है। इसलिए वस्तुमात्र के अभावरूप होने में कोई बाधा नहीं समझीजानी चाहिये।

इस आशंका के समाधान के लिए यह समझना आवश्यक है कि भाव के साथ अभाव के सामानाधिकरण्य के प्रयोग अथवा प्रतीति का प्रयोजन क्या है? जब 'असन् गौः अश्वात्मना' कहाजाता है, तब अश्वसद्भाव के साथ गौ के अभाव का सामानाधिकरण्य अभिलक्षित होता है। इसमें गौ और अश्व के अव्यतिरेक-अभेद का प्रतिषेध कियाजाता है। भावों का अभाव के सामानाधिकरण्य का यही स्वरूप है। यहाँ 'गाय घोड़ा नहीं है' यह कथन व ऐसा ज्ञान गाय और घोड़े के भेद का बोध कराता है; यही इसका प्रयोजन है।

जिन वस्तुओं का संयोग-सम्बन्ध सम्भव है, उनका परस्पर-भेद निश्चित

है। उनके अभेद-सम्बन्ध का प्रतिषेध करने के लिए असत् (अभाव) के साथ सत् (भाव) का सामानाधिकरण्य कहाजाता है। गाय और घोड़ा अभिन्न नहीं हैं, एक नहीं है; इस कथन से गाय-घोड़े के अभेद अर्थात् एकता का प्रतिषेध कियागया। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि गाय या घोड़ा अभावरूप हैं; इस कथन का केवल इतने में पर्यवसान होजाता है–गाय और घोड़ा एक नहीं, ये भिन्न पदार्थ हैं, और अपना स्व-तन्त्र अस्तित्व रखते हैं। फलतः भाव-अभाव का सामानाधिकरण्य भाव की अभावरूपता को सिद्ध न कर भावों के परस्पर भेद को सिद्ध करता है। भावों के परस्पर-भेद को बोधन कराना सामानाधिकरण्य का प्रयोजन है। अतः इस आधार पर उक्त आशंका का उभारना असंगत व निर्मूल है॥ ३८॥

भाव-पदार्थ स्वभाव-सिद्ध नहीं—वस्तु-सद्भाव के साधक 'भावों की स्वभावसिद्धि' हेतु के वादी द्वारा निराकरण की भावना को आचार्य सूत्रकार ने सूचित किया—

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ॥ ३९ ॥ (३८३)

[न] नहीं (युक्त) [स्वभावसिद्धिः] स्व-भाव की सिद्धि [आपेक्षिकत्वात्] आपेक्षिक होने से।

अन्य की अपेक्षा के आधार पर जो वस्तु-स्वरूप सामने आता है, वह 'आपेक्षिक' कहाजाता है। वस्तुओं में ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ, तथा दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व व्यवहार होता है। यथार्थ में कोई वस्तु स्व-रूप से अवस्थित नहीं है। इसके अनुसार भावों की पूर्वोक्त स्व-भावसिद्धि सम्भव नहीं; क्योंकि उनका अस्तित्व आपेक्षिक होता है। जैसे ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ, तथा दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व का व्यवहार पदार्थों में देखाजाता है, ऐसे ही प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व परस्पर भेद-सापेक्ष है। जब कहाजाता है–'यह घट है', तब घट अपने अस्तित्व में–घट से अतिरिक्त पट आदि समस्त पदार्थों के भेद की अपेक्षा करता है। यदि घट-सत्ता व घट-ज्ञान में पट आदि का भेद अपेक्षित न हो, तो घट को पट आदि भी क्यों न समझलियाजाय? भेद की अपेक्षा न रहने पर घट को पट समझाजासकता है। पर ऐसा नहीं है, यथार्थज्ञान की स्थिति में घट को घट ही समझाजाता है। इससे निश्चित है–घट की सत्ता व प्रतीति में पटादिभेद का ज्ञान अपेक्षित होता है। इससे परिणाम निकलता है–कोई भाव-पदार्थ स्वतन्त्रतापूर्वक स्व-रूप से अवस्थित नहीं है, क्योंकि वह अपने सद्भाव को अपेक्षासामर्थ्य से प्राप्त करता है। अपेक्षा का सामर्थ्य यह है कि सापेक्ष पदार्थ को अपने मुकाबले में तुच्छ बनादेती है। जब भाव अपने सद्भाव में भेद (अभाव) की अपेक्षा करेगा, तो अभाव अपने मुकाबले में भाव को तुच्छ बनाकर

उसपर हावी होजायगा। इसलिए 'भावों की स्वभावसिद्धि' हेतु-आपेक्षिक होने से भावों के स्वतन्त्र सद्भाव को सिद्ध करने में असमर्थ है ॥ ३९ ॥

भाव को स्वभावसिद्ध न मानना व्याहत—आचार्य सूत्रकार वादी के उक्त तर्क का निराकरण करता है—

व्याहतत्वादयुक्तम् ॥ ४० ॥ (३८४)

[व्याहतत्वात्] व्याहत होने से--अन्योन्याश्रय-दोष-दुष्ट होने से (आपेक्षिकत्व हेतु के) [अयुक्तम्] अयुक्त है (सबकी तुच्छता का कथन)।

वस्तुओं में ह्रस्व-दीर्घ-व्यवहार को--वस्तु की स्वरूप-सिद्धि के आधार पर न मानकर–यदि एक-दूसरे की अपेक्षा से मानाजाता है, तो इस मान्यता में अन्योन्याश्रय-दोष स्पष्ट है। यदि ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ है, तो 'ह्रस्व' व्यवहार तथा ह्रस्व-ग्रहण किसकी अपेक्षा से होगा ? क्योंकि ह्रस्व-स्थितिकाल में अभी दीर्घ-ग्रहण नहीं है। तात्पर्य है--ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ-ग्रहणकाल के पूर्व दीर्घ-ग्रहण नहीं है; तब दीर्घ का प्रयोजक ह्रस्व-ग्रहण व व्यवहार किसकी अपेक्षा से होगा ? यदि दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व-ग्रहण प्रथम मानाजाता है, तो वैसे ही दीर्घ-ग्रहण किसकी अपेक्षा से होगा ? क्योंकि दीर्घ अभीतक अनापेक्षिक है। ऐसी दशा में इन दोनों के अन्योन्याश्रय होने से एक के अभाव में दूसरे का अभाव होने के कारण दोनों का अभाव होजायगा। इसप्रकार अपेक्षा के आधार पर वस्तु की व्यवस्था अनुपपन्न होजाती है। तब वस्तु को स्वरूपसिद्ध मानना प्रामाणिक है।

इसके विपरीत यदि वस्तु को स्वरूपसिद्ध नहीं मानाजाता, तो जो द्रव्य परस्पर सम (बराबर) हैं उनमें, अथवा दो परमाणुओं में–जो सर्वथा सम होते हैं–ह्रस्व-दीर्घ-व्यवहार होना चाहिये। क्योंकि वादी परस्पर-सापेक्षता को ह्रस्व-दीर्घ-व्यवहार का प्रयोजक मानता है, तथा सम द्रव्यों में सापेक्षता विद्यमान रहती है; क्योंकि समता का निर्देशन परस्पर-सापेक्षता से होता है। परन्तु सम द्रव्यों में ह्रस्व-दीर्घ-व्यवहार न देखाजाता है, न प्रमाणसिद्ध है। यह स्थिति उनकी स्वरूपसिद्धि को प्रमाणित करती है। इससे उनका तुच्छ होना सम्भव नहीं।

वादी कहसकता है--ह्रस्व-दीर्घ आदि की–सापेक्षता और निरपेक्षता, ये–दोनों स्थितियाँ स्वीकार करलेनी चाहियें। उस दशा में सापेक्ष होने से वस्तु की तुच्छता सिद्ध होती है; और निरपेक्ष होने से अन्योन्याश्रय-दोष का निराकरण होजाता है। इससे ह्रस्व और दीर्घ, दोनों के अभाव की आपत्ति का अवसर भी दूर होजाता है।

वादी द्वारा पक्ष में निरपेक्षता को स्वीकार करलेने पर भी दोष पूर्ववत् बना रहता है। यदि ह्रस्व-दीर्घ की स्थिति निरपेक्ष है, तो ह्रस्व-दीर्घ द्रव्यों में

सभता की प्रतीति होना प्राप्त होजाता है। क्योंकि द्रव्य में ह्रस्व-दीर्घता रूप विशेषता का ग्रहण अन्य की अपेक्षा से होसकता है। आपेक्षिक न होने पर ह्रस्व-दीर्घ दोनों द्रव्य-सम प्रतीत होने चाहियें; ह्रस्व-दीर्घता का ग्रहण न होना चाहिये; जबकि प्रत्येक अवस्था में वस्तु स्व-रूप का परित्याग न कर स्थिर बनी रहती है। तब ह्रस्व-दीर्घ आदि विशेषता के गृहीत होने से उक्त मान्यता युक्त प्रतीत नहीं होती।

सापेक्ष मानने पर ह्रस्व-दीर्घ आदि द्रव्यों की विशेषता का ग्रहण होना तो सम्भव है, परन्तु इसमें पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय-दोष के आधार पर ह्रस्व-दीर्घ दोनों के अभाव की आपत्ति सामने उपस्थित रहती है। इसलिये पदार्थों की स्व-रूपसिद्धि को स्वीकार करना ही चाहिये।

यदि भाव स्वरूपसिद्ध हैं, तो अपेक्षासामर्थ्य-अपेक्षा का प्रयोजन क्या होगा? क्योंकि पदार्थ का ह्रस्व-दीर्घ होना अपेक्षा पर आधारित है, यही उसका सामर्थ्य-प्रयोजन है। यदि पदार्थ स्वरूपसिद्ध है, स्वरूप से ही वह ह्रस्व-दीर्घ-रूप में विद्यमान है, तो अपेक्षा व्यर्थ है।

दो पदार्थों का ज्ञान होने के समय उनके किसीप्रकार के अतिशय-विशेषता के ग्रहण में अपेक्षा निमित्त है, यही अपेक्षा का सामर्थ्य-प्रयोजन समझना चाहिये। वस्तु का स्वरूप जैसा है, अपेक्षा-अनपेक्षा दोनों अवस्थाओं में ठीक वैसा ही बना-रहता है। दो वस्तुओं के ग्रहण के अवसर पर अपेक्षा उनकी किसी विशेषता का केवल बोध कराने में निमित्त रहती है। वस्तु के स्वरूप ह्रस्व, दीर्घ व सम-भाव की उत्पत्ति में उसका कोई सहयोग नहीं होता; वह वस्तु-स्वरूप बोध होने से पूर्व विद्यमान है। फलत: अपेक्षा का सामर्थ्य-प्रयोजन विद्यमान ह्रस्व-दीर्घ आदि का निश्चयात्मक ज्ञान कराना मात्र है। इस विवेचन के आधार पर यह निर्धा-रित होजाता है, कि पदार्थ केवल अभाव नहीं है ॥ ४० ॥

संख्यैकान्तवाद—कतिपय विचार संख्या के आधार पर निरूपित किये-जाते हैं, जैसे—सब पदार्थों में 'सद्भाव' समान होने से सब एक है—सत्। पदार्थों में केवल दो प्रकार सम्भव हैं—नित्य और अनित्य। अतः दो पदार्थ मानना युक्त है। पदार्थों का विभाजन तीन प्रकारों में देखाजाता है—ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान। यह विभाजन चार प्रकार का भी होसकता है—प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति। ऐसी अन्य कल्पना भी कीजासकती हैं।जैसे—स्कन्ध (रूप, संज्ञा, संस्कार, वेदना, अनुभव) रूप में पाँच पदार्थ हैं, अथवा भूतों के रूप में पाँच पदार्थ हैं। द्रव्यादिरूप में छह पदार्थ हैं। अभाव को जोड़कर सात हैं, इत्यादि। इनकी परीक्षा करने की भावना से आचार्य सूत्रकार ने कहा—

संख्यैकान्तासिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ४१ ॥ (३८५)

[संख्यैकान्तासिद्धिः] संख्या के आधार पर किसी एक सिद्धान्त की सिद्धि युक्त नहीं, [कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्] कारणों की अनुपपत्ति और उपपत्ति से (किसी पदार्थ की असिद्धि अथवा सिद्धि होने के कारण)।

किसी पदार्थ का होना या न होना उसके कारणों पर आधारित है। यदि उसके कारण–साधक प्रमाण उपपन्न हैं, तो वह पदार्थ मानाजायगा, यदि प्रमाण अनुपपन्न हैं, असिद्ध हैं, तो वह अमान्य होगा। परीक्षा करनी चाहिये–संख्या के आधार पर पदार्थ का एक, दो, तीन आदि होना सम्भव है, या नहीं?

पहली मान्यता है–पदार्थ एक है। इसकी सिद्धि के लिये साधक-प्रमाण का होना आवश्यक है। साध्य और साधन कभी एक नहीं होसकते। साध्य-साधन का परस्पर-भेद निश्चित है। 'सब एक है' यह साध्य है; इसका साधन निश्चितरूप में इससे भिन्न होगा। तब 'सब एक है' यह मान्यता असंगत होगी, क्योंकि उससे अतिरिक्त उसका 'साधन' विद्यमान रहता है। यदि साधन अतिरिक्त नहीं है, तो साधन के अभाव में साध्य असिद्ध होगा। तब भी उक्त मान्यता का असंगत होना स्पष्ट है। इसप्रकार यह रस्सी की फाँस दोनों ओर से उक्त मान्यता को जकड़ लेती है।

उक्त वादों के प्रत्याख्यान का यह प्रकार प्रत्येक वाद में लागू होजाता है। 'सब पदार्थ दो हैं' यह साध्य है; इसका साधन इससे अतिरिक्त होगा। तब 'सब दो पदार्थ हैं' यह मान्यता संगत न रहेगी, साधन की संख्या बढ़जायेगी। यदि साधन उसी के अन्तर्गत है, तो साध्य से अतिरिक्त साधन के अभाव में साध्य असिद्ध होगा, क्योंकि साधन के विना किसी अर्थ की सिद्धि नहीं होसकती।

यही प्रक्रिया तीन, चार आदि संख्याओं के आधार पर पदार्थों की मान्यता के विषय में लागू करलेनी चाहिये ॥ ४१ ॥

संख्यैकान्तवाद की असिद्धि के–वादी द्वारा–निराकरण की भावना को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

न कारणावयवभावात् ॥ ४२ ॥ (३८६)

[न] नहीं (युक्त, संख्यैकान्तवाद की उक्त असिद्धि), [कारणावयवभावात्] कारण के (स्वीकृत वाद का ही) अवयव-अंश होने से।

संख्यैकान्तवाद की असिद्धि युक्त नहीं है; क्योंकि साधन स्वीकृतवाद का अंश होता है, उससे अतिरिक्त नहीं। एक अर्थ का कोई अंश साध्य और कोई अंश साधन होसकता है। प्रत्येक स्वीकृत वाद में ऐसा होना सम्भव है। साध्य अवयवी और साधन अवयवरूप है। अवयव-अवयवी में अभेद होने से साधन भी साध्य से अभिन्न रहता है; इसलिये वाद को स्वीकृत संख्या में कोई अन्तर नहीं आता ॥ ४२ ॥

आचार्य सूत्रकार वादी की उक्त भावना का निराकरण करता है—

निरवयवत्वादहेतुः ॥ ४३ ॥ (३८७)

[निरवयवत्वात्] अवयव-रहित होने से (एक तत्त्व के, अथवा स्वीकृत वाद की इकाई के), [अहेतुः] उक्त (कारणावयवभावात्) हेतु ठीक नहीं है।

तत्त्व के एकमात्र होने पर उसमें अवयव की कल्पना निराधार है। जब 'सर्वं एकम्—सब एक है' इस रूप में प्रतिज्ञा कीजाती है, तब उससे बाहर कुछ शेष नहीं रहता। प्रतिज्ञात अर्थ साध्य है, साध्य का एकदेश—अवयव कभी साधन नहींहो सकता। इसके साथ यह भी ज्ञातव्य है कि जहाँ अवयव की कल्पना होती है, वहाँ वस्तु का एकमात्र होना असम्भव है; क्योंकि प्रत्येक अवयव अपने रूप में एक स्वतन्त्र इकाई होने से वस्तु की एकमात्रता को नष्ट करदेता है। अवयव की सम्भावना अनित्य द्रव्य में कीजाती है, यह भी ध्यान रखना चाहिये। एकमात्र द्रव्य की मान्यता में यदि उसे अनित्य मानाजाता है, तो उसकी एकता स्वतः नष्ट होजाती है।

अन्य वादों में भी यह स्थिति समझलेनी चाहिये। पदार्थों का नित्य-अनित्य होना, उनका केवल प्रकार-भेद है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि पदार्थ केवल दो इकाइयों में पूरा होजाता है। नित्य पदार्थ अनेक हैं; और अनित्य पदार्थ भी संख्या की दृष्टि से अनन्त कहेजासकते हैं। तब 'पदार्थ दो हैं' कहना असंगत होजाता है। पदार्थों के तीन या चार मानने में असंगति का प्रकार गत सूत्र [४।१।४१] में कहदियागया है।

संख्यैकान्तवाद में एक, दो, तीन, चार आदि संख्याओं के अनुरूप पदार्थों की मान्यता इस रूप में भी प्रकट कीजासकती है—

१. एक ब्रह्मतत्त्व अथवा आत्मतत्त्व—एकदेशी औपनिषद। इस मान्यता को अनन्तर काल में बौद्ध आचार्यों ने शून्य-एकतत्त्व के रूप में तथा गौड़पाद एवं शङ्कर आदि आचार्यों ने निष्कल ब्रह्मतत्त्व के रूप में स्वीकृत व प्रचारित किया।

२. पुरुष और प्रकृति दो तत्त्व—एकदेशी सांख्य वार्षगण्य एवं उसके अनुयायी सांख्याचार्य। ये आचार्य 'पुरुष'-पद से केवल जीवात्मतत्त्व को स्वीकार करते हैं; तथा चेतन (पुरुष) एवं अचेतन (जड़-प्रकृति) के रूप में केवल दो प्रकार के तत्त्व स्वीकार करते हैं।

३. ईश्वर, जीवात्मा, प्रकृति तीन तत्त्व—प्राचीन कपिल, पतञ्जलि आदि सांख्य-योगाचार्य, एवं वेदानुयायी विद्वान्। कपिल आदि आचार्य 'पुरुष' और 'प्रकृति' पदों से विवेचित तत्त्वों में 'पुरुष'-पद से ईश्वर और जीवात्मा दोनों चेतन तत्त्वों का ग्रहण करते हैं। यह ईश्वर वही तत्त्व है, जिसको 'ब्रह्म' व 'आत्मा' आदि पदों से अन्यत्र प्रकट कियागया है। 'आत्मा' पद जीवात्म-तत्त्व

का भी बोधक होने के कारण उससे भेद करने के लिए 'ईश्वर' अर्थ का बोध 'परम' विशेषण लगाकर 'परमेश्वर' अथवा 'परमात्मा' पद से करायाजाता है। कपिल आदि आचार्यों ने तत्त्व-त्रय का उपपादन वेदों के आधार पर प्रस्फुटित किया है।

४. पृथिवी, जल, तेज, वायु, चार मूल तत्त्व–बृहस्पति आदि आचार्य। इस विचार को चार्वाक आदि आचार्यों ने व्याख्यात व प्रचारित किया।

५. उक्त चार तत्त्वों में एक आकाश तत्त्व को जोड़कर पाँच भूततत्त्व– समस्त भौतिकवादी आचार्य; इनमें आर्हत भी अन्तर्गत हैं।

६. द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, ये छह पदार्थ अथवा तत्त्व-कणाद, तथा उसके अनुयायी आचार्य।

७. उक्त छह पदार्थों में 'अभाव' नामक पदार्थ को जोड़कर सात पदार्थ– वैशेषिक विद्वान्। संख्या छह-सात में कथित मान्यता का मूल उद्बोधक आचार्य कणाद है। विभिन्न व्याख्याताओं के विचारों के अनुसार यहाँ उसे दो भागों में प्रस्तुत करदिया है।

प्रावादुक मान्यताओं के विवेचन का यह प्रसंग प्रारम्भ में जगत् के मूल उपादान तत्त्व की परिशुद्धि एवं उसकी स्पष्टता का बोध कराने के लिए प्रस्तुत कियागया; परन्तु आगे चलकर विचार-परम्परा में यह खोया-सा गया है; अपने मूल ध्येय से बिखर-सा गया प्रतीत होता है। फलस्वरूप जगत् के मूल उपादान-तत्त्व-विवेचन के अतिरिक्त अन्य कारण-तत्त्वों तथा प्रासंगिक विचारों का भी विवेचन इसमें आगया है।

प्रस्तुत संख्यैकान्तवाद में जिन मान्यताओं का गत पंक्तियों में उल्लेख हुआ है, उनमें पहली मान्यता केवल एक चेतन तत्त्व को जगत् का मूल मानकर उसके विस्तार की व्याख्या करती है। चौथी और पाँचवीं संख्याओं पर निर्दिष्ट मान्यताएँ जगत् के मूल में केवल जड़तत्त्व को मानकर उसकी व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। इन मान्यताओं में यथाक्रम चेतन से जड़ की सृष्टि, तथा जड़ से चेतन की सृष्टि को स्वीकार कियागया है। शेष मान्यताओं में चेतन और जड़ की स्वतन्त्र स्थिति को स्वीकार कियागया है। ये दोनों प्रकार के तत्त्व एक-दूसरे से पृथक् हैं, तथा अपने अपेक्षित कार्य को निबाहते हुए मिलकर जगत् के निर्माण में कारण होते हैं। इस कार्य-कारणभाव की परिशुद्धि के लिए यह प्रावादुक मान्यताओं का विवेचन प्रस्तुत कियागया है।

इस विवेचन का सार इतना है–यदि ये संख्यैकान्तवाद–अपने विशिष्ट कारणों से अभिव्यक्त अर्थभेद के विस्तार (अनन्त रूपों में विभक्त जगत् के विस्तार) का–प्रत्याख्यान करने के लिए प्रवृत्त होते हैं, तो ये प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि समस्त प्रमाणों के विरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्यावाद एवं अमान्य हैं।

यदि ये जगत् के रूप में अर्थभेद के विस्तार को स्वीकृत करते हैं, तो अनेक सामान्य धर्मों के आधार पर–जगत् के इस अनन्त विस्तार को किन्हीं थोड़े-से वर्गों में परिगणित व परिसीमित करने की व्यवस्था होसकती है। जैसे–सभी विविध पदार्थों का 'सद्भाव' समान है। इस 'सत्ता' समान धर्म के कारण विविध प्रकार के अनेक पदार्थ एक वर्ग में आजाते हैं; तथा अपने विशेष कारणों से अभिव्यक्ति द्वारा एक इकाई-रूप में सब एक-दूसरे से भिन्न हैं। इसप्रकार एक (सत्ता-सामान्य द्वारा), अथवा कतिपय परिगणित वर्गों (द्रव्यत्व, गुणत्व आदि; एवं गोत्व, अश्वत्व आदि) में समस्त विश्व का संग्रह कियाजासकता है। ऐसी स्थिति में पदार्थों की संख्या का नियम (संख्यैकान्तवाद) निराधार व अमान्य होजाता है, अपने अस्तित्व को छोड़बैठता है। प्रवादों की यह परीक्षा इसप्रकार तत्त्वज्ञान के विवेचन में प्रतिफलित होजाती है ॥ ४३ ॥

फल-परीक्षा—प्रेत्यभाव की परीक्षा के अनन्तर अब 'फल' प्रमेय की परीक्षा क्रमप्राप्त है। उस विषय में सूत्रकार ने जिज्ञासु शिष्य की भावना को सूत्रित किया—

सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः ॥ ४४ ॥ (३८८)

[सद्यः] जल्दी, [कालान्तरे] अन्य काल में (अर्थात् विलम्ब से) [च] और [फलनिष्पत्तेः] फल-सिद्धि होने के कारण [संशयः] सन्देह होता है (व्यवस्थित फलप्राप्ति के विषय में)।

कार्य करने पर फल-प्राप्ति की कोई नियत व्यवस्था नहीं है। कभी फल जल्दी प्राप्त होजाता है, कभी विलम्ब से। ऐसी दशा में यह सम्भव है–कभी फल प्राप्त न भी हो। व्यक्ति खाना पकाता है, गाय दुहता है; इस कार्य का फल तत्काल उसे प्राप्त होजाता है। भोजन पकाकर उसका उपभोग करता है, गाय दुहकर दूध पाता है। कुछ कार्यों का फल विलम्ब से मिलता है। किसान खेत जोतता है, बीज बोता है। उसका फल महीनों के अनन्तर प्राप्त होता है; किसान प्रभूत अन्नराशि पाजाता है।

लौकिक कार्यों के अतिरिक्त कतिपय शास्त्रीय कर्म हैं, 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'-स्वर्ग की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति अग्निहोत्र होम करे। इच्छुक व्यक्ति इसका अनुष्ठान करता है। विलम्ब से भी चालू जीवन में ऐसे अनुष्ठान का फल न मिलने के कारण सन्देह होता है–इसका फल मिलता है, या नहीं? फलतः यह व्यवस्था नहीं है कि कर्म-फल नियमपूर्वक मिलता हो ॥ ४४ ॥

आचार्य सूत्रकार उक्त जिज्ञासा का समाधान करता है—

न सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात् ॥ ४५ ॥ (३८९)

[न] नहीं [सद्यः] जल्दी (प्राप्त होता, यज्ञानुष्ठान का फल), [कालान्तरोपभोग्यत्वात्] कालान्तर में–विलम्ब से उपभोग्य होने के कारण।

यज्ञादि कर्मानुष्ठानों का फल जल्दी इसी जीवन में प्राप्त नहीं होता। शास्त्रों में उल्लेख है–यागानुष्ठान आदि का फल स्वर्ग में प्राप्त होता है। इस देह के छूट जाने पर देहान्तर की प्राप्ति उस व्यक्ति को सबप्रकार के सुख-साधन-सम्पन्न घरों में होती है, जिसने यागादि अनुष्ठान पूर्व-जीवन में किया होता है। स्वर्ग उस सुखविशेष का नाम है, जो असाधारण अवस्था में प्राप्त होता है।

शास्त्र में कतिपय ऐसी इष्टियों का विधान है, जिनके अनुष्ठान का फल इसी जीवन में प्राप्त होता है। उनमें ग्रामकाम इष्टि, तथा पुत्रकाम इष्टि का नाम लियाजासकता है। जो व्यक्ति भू-सम्पत्ति की तथा पुत्र की कामना करता है, उसे उक्त इष्टियों का अनुष्ठान करने से इसी जीवन में अनुकूल फल की प्राप्ति होजाती है। इससे शेष शास्त्रीय यागों के अनुष्ठान से अनुकूल फलप्राप्ति का अनुमान कियाजासकता है। भले ही वह अन्य जीवन में प्राप्त हो ॥ ४५ ॥

फलप्राप्ति कालान्तर में कैसे—विलम्ब से होनेवाली फलप्राप्ति के विषय में शिष्य की जिज्ञासा को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

कालान्तरेणाऽनिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ॥ ४६ ॥ (३९०)

[कालान्तरेण] कालान्तर-विलम्ब से [अनिष्पत्तिः] निष्पत्ति-सिद्धि-प्राप्ति नहीं (होनी चाहिये, फल की) [हेतुविनाशात्] हेतु–कर्म का विनाश होजाने से (तथाकथित फलप्राप्तिकाल से बहुत पहले ही)।

यज्ञादि से होनेवाले सुखादि फलों की प्राप्ति का कारण यज्ञानुष्ठान है। वह यज्ञानुष्ठान-क्रिया के अनन्तर समाप्त होजाता है, नष्ट होजाता है। यदि उसका फल तत्काल न मिलकर विलम्ब से मिलने की बात कहीजाती है, तो वह युक्त प्रतीत नहीं होती। क्योंकि तथाकथित फलप्राप्ति के समय फल का हेतु यज्ञ-कर्म नष्ट होचुका होता है। हेतु के अभाव में फल का होना मानाजाना अप्रामाणिक है। ऐसा मानने से सब कार्य-कारण व्यवस्था का विलोप होजायगा। इसलिए यज्ञादि अनुष्ठानों की फलप्राप्ति के विषय में संशय तदवस्थ बना रहता है ॥ ४६ ॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

प्राङ् निष्पत्तेर्वृक्षफलवत् तत्स्यात् ॥ ४७ ॥ (३९१)

[प्राक्] पहले [निष्पत्तेः] निष्पत्ति-सिद्धि से (फलप्राप्ति की) [वृक्षफलवत्] वृक्ष के फल के समान [तत्] वह (कर्मफल) [स्यात्] होता है (ऐसा समझना चाहिये)।

जो व्यक्ति वृक्ष से उसके फल लेना चाहता है, वह वृक्ष की जड़ में अनुकूल खाद आदि डालता है, अन्य खरपत-घास-कबाड़ को पेड़ की जड़ के आस-पास पनपने नहीं देता, उन्हें उखाड़ता रहता है; समय-समय पर जड़ में जल सींचता है। ये सब जल-सेचन आदि क्रिया अपने अनुष्ठान के अनन्तर नष्ट होजाती हैं। परन्तु सिञ्चित जल आदि का वृक्ष-फल के साथ सम्बन्ध को समझना चाहिये। यह ठीक है—कारण के अभाव में कार्य नहीं होसकता। सेचन आदि क्रियाओं के न रहने पर कालान्तर में वृक्ष से फल प्राप्त होता है। यदि सेचन आदि क्रिया न कीजायें, तो न वृक्ष परिपुष्ट होगा, न फल प्राप्त होगा। इससे फल की उत्पत्ति और सेचन आदि क्रियाओं के परस्पर कार्य-कारणभाव का पता लगता है। असम्बद्ध कारण कार्य को उत्पन्न नहीं करसकता, तब सिञ्चित जल आदि कारणों का फलोत्पत्ति-कार्य से सम्बन्ध का जानना आवश्यक होजाता है।

खाद व सिञ्चित जल आदि उस भूभाग में सम्मिश्रित होजाते हैं, जहाँ वृक्ष पौधे के रूप में रोपागया है। वे जड़ों के समीप पहुँचकर वहाँ की ऊष्मा से अनुकूल रसों के रूप में परिवर्त्तित होते हैं। तब वृक्ष की जड़ें उन अपने अनुकूल रसों को अपने अन्दर आकृष्ट करती हैं, उन्हें चूसजाती हैं। वृक्ष में पहुँचे हुए, एवं व्याप्त हुए वे द्रव्यभूत रस वृक्ष की विशिष्ट पाकक्रिया के अनुरूप यथास्थान सन्निविष्ट होकर पत्ते, फूल, फल आदि की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। इस-प्रकार जल-सेचन आदि क्रिया के न रहने पर भी सिञ्चित जल आदि का सम्बन्ध ज्ञात होजाता है; इसके अनुसार वे क्रिया सफल मानीजाती हैं। यहाँ हेतु के अभाव में फलनिष्पत्ति नहीं है। सिञ्चित जल आदि परम्परा से अनुकूल रसादि के रूप में परिवर्त्तित होते हुए फलोत्पत्ति में कारण होते हैं।

इसीप्रकार यागादि शुभ तथा अन्य अशुभ कर्मों के अनुष्ठान से कर्त्ता आत्मा में धर्म-अधर्मरूप संस्कार उत्पन्न होजाते हैं। तात्पर्य है—अनुष्ठान पूरा होकर आत्मगत धर्म-अधर्म के रूप में उभर आते हैं। आत्मा में व्यवस्थित वे धर्म-अधर्म कालान्तर में फलोत्पत्ति के सहयोगी साधनों के मिलने पर सुख-दुःख-रूप फल को उत्पन्न करदेते हैं। इससे कर्मों की फलप्राप्ति के विषय में कोई सन्देह नहीं होनाचाहिये। कर्मफल का विवरण 'पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः' [३।२।६२] सूत्र के प्रसंग में भी दियागया है ॥ ४७ ॥

फल-उत्पत्ति से पूर्व असत्—फल अर्थात् कार्य की उत्पत्ति के प्रसंग से इस समय एक अन्य विचार-चर्चा का लक्ष्य बनकर सामने आगया—यह उत्पन्न होनेवाला कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व सत् है? असत् है? अथवा सत्-असत् उभयरूप है? या अनुभयरूप? न सत् न असत्। इन सब पक्षों को उपस्थित कर आचार्य उत्पत्ति से पहले कार्य के अभाव का उपपादन करना चाहता है। इस भावना से सूत्रकार ने प्रथम सब पक्षों को प्रस्तुत किया—

नासन्न सन्न सदसत् सदसतोर्वैधर्म्यात् ॥ ४८ ॥ (३९२)

[न] नहीं [असत्] अविद्यमान (कार्य, उत्पत्ति से पहले), [न] नहीं [सत्] विद्यमान, [न] नहीं [सद्-असत्] विद्यमान तथा अविद्यमान [सद्-असतोः] विद्यमान और अविद्यमान के (परस्पर) [वैधर्म्यात्] विरुद्धधर्मवाला होने से।

कार्य-उत्पत्ति से पूर्व असत्-उत्पत्तिधर्मक कोई कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले असत् नहीं होता। उत्पत्ति से पूर्व भी वह विद्यमान रहता है। प्रत्येक उत्पद्यमान कार्य के लिए उसके उपादान-कारण के विषय में एक नियम है, व्यवस्था है। किसी कार्य के लिए किन्हीं विशेष कारणों का उपादान कियाजाता है। कारणसामग्री उपादाता जानता है-मिट्टी से घट, पीतल आदि धातु से कलश, एवं तन्तुराशि से वस्त्र की उत्पत्ति होती है। वह उन-उन कार्यों के लिए उन्हींका उपादान करता है। इससे उन कारणों में उन कार्यों की विद्यमानता परिलक्षित होती है। यदि कारणों में उत्पत्ति से पूर्व कार्य सर्वात्मना अविद्यमान हो, तो कार्याभाव के सर्वत्र समानरूप से होने की स्थिति में प्रत्येक कार्य प्रत्येक कारण से उत्पन्न होजाना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं होता। घट मिट्टी से ही होता है, तन्तु से नहीं। वस्त्र तन्तु से ही होता है, मिट्टी से नहीं। इससे उन कारणों में उत्पत्ति से पूर्व भी किसी रूप में कार्य की विद्यमानता जानीजाती है। यह पक्ष 'सत्कार्यवाद' कहाजाता है।

इसके विपरीत दूसरा पक्ष-असत्कार्यवाद है। इसकी मान्यता है-उत्पत्ति से पूर्व कार्य विद्यमान नहीं रहता। यदि कार्य उत्पत्ति से पहले विद्यमान है, तो उसकी उत्पत्ति होना अनुपपन्न है। विद्यमान की उत्पत्ति कैसी?

तीसरा पक्ष-सदसद्वाद है। इस वाद में उत्पत्ति से पूर्व कार्य की किसी रूप में सत्ता और किसी अन्य रूप में असत्ता मानीजाती है। परन्तु इस मान्यता में यह शिथिलता है कि एक वस्तु विद्यमान हो, और साथ ही अविद्यमान भी; यह सम्भव प्रतीत नहीं होता। क्योंकि 'सत्' का स्वरूप है-वस्तु की विद्यमानता को स्वीकार करना; और 'असत्' का स्वरूप-वस्तु का प्रतिषेध करना। 'स्वीकार' और 'प्रतिषेध' ये दोनों परस्पर-विरुद्ध स्थितियाँ हैं। इनका एक अधिकरण में साथ रहना अनुपपन्न है ॥ ४८ ॥

तीनों पक्षों को प्रस्तुतकर सूत्रकार अपना अभिमत बताता है-उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् रहता है। हेतु दिया—

उत्पादव्ययदर्शनात् ॥ ४९ ॥ (३९३)

[उत्पादव्ययदर्शनात्] उत्पाद-उत्पत्ति तथा व्यय-विनाश देखेजाने से (कार्यमात्र का)।

कार्य की उत्पत्ति देखीजाती है। यह एक नये रूप में वस्तु का प्रकट,

प्रादुर्भाव होना है । वस्तु का यह रूप पहले कभी प्रकट में नहीं आया, इसलिए उत्पत्ति से पूर्व इसे अविद्यमान मानना चाहिये । उत्पत्ति के अनन्तर कालान्तर में उत्पन्न वस्तु का विनाश देखाजाता है । उत्पन्न वस्तु का वह रूप एक बार नष्ट होकर फिर कभी उभार में नहीं आता । यह स्थिति उत्पत्ति से पूर्व वस्तु की अविद्यमानता को स्पष्ट करती है । जिन किन्हीं कारणों से जो रूप आगे अभिव्यक्त होगा, वह वही रूप नहीं होसकता, जो एकबार नष्ट होचुका है । पहले के समान होसकता है, पर वही नहीं । इसलिए उत्पत्ति से पहले और विनाश के पश्चात् कार्य की असत्ता-अविद्यमानता उपपन्न होती है ॥ ४९ ॥

उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता—उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सर्वात्मना असत्ता मानने पर कार्य-कारणभाव की व्यवस्था बिखरजाती है । किसी विशिष्ट कार्य के लिए नियत उपादान-तत्त्वों के ग्रहण करने का कोई आधार नहीं रहता, जो सत्कार्यपक्ष में उपादाननियम हेतु से प्रथम प्रकट कियागया है । इसको स्पष्ट करने के लिए आचार्य सूत्रकार ने बताया—

बुद्धिसिद्धं तु तदसत् ॥ ५० ॥ (३९४)

[बुद्धिसिद्धम्] बुद्धिसिद्ध [तु] तो (होता है) [तत्] (वह उत्पत्ति से पूर्व) [असत्] अविद्यमान कार्य ।

उत्पत्ति से पूर्व अविद्यमान कार्य की बुद्धिसिद्ध सत्ता तो रहती है । कारणों के सन्निवेश-विशेष से उत्पन्न कार्य का जो आकार-प्रकार अभिव्यक्ति में आता है, उस कार्य को अभिव्यक्त व उत्पन्न करने में कौनसे कारण समर्थ हैं, यह कर्त्ता की बुद्धि द्वारा सिद्ध-निश्चित-निर्धारित होता है । किसी कार्य का कर्त्ता-निर्माता कार्य की उत्पत्ति व निर्माण से पूर्व इस बात को असन्दिग्धरूप में जानता है कि अमुक कार्य के लिए किन कारणों का उपादान करना चाहिये । उन कारणों से किस आकार-प्रकार का कार्य उभारना है, यह भी वह जानता है । जो आकार-प्रकार निर्माण के अनन्तर अभिव्यक्ति में आता है, ठीक वही आकार-प्रकार निर्माता को निर्माण के पूर्व कारणतत्त्वों में बुद्धि द्वारा दृष्टिगोचर होता है । वह रचना पूर्ण ज्ञानपूर्वक होती है, अकस्मात् नहीं निकल आती । उत्पत्ति से पूर्व अविद्यमान कार्य के बुद्धिसिद्ध होनेका यही तात्पर्य है । कहा-जासकता है—उत्पत्ति के अनन्तर कार्य जिस आकार-प्रकार में अभिव्यक्त हुआ है, उससे पूर्वकाल में वह अनभिव्यक्त रहता है । यही उसकी अविद्यमानता-असत्ता का स्वरूप है ।

इससे परिणाम निकलता है-उत्पत्ति से पूर्व कार्य सर्वात्मना असत् नहीं होता । कारण में अनभिव्यक्तरूप से विद्यमान कार्य की सत्ता को निर्माता अपनी बुद्धि द्वारा देखता है, और निर्माण के अनन्तर उसे अभिव्यक्त करलेता है । ईंट

तथा अन्य गृहसामग्री के ढेर में गृहशिल्पी को–बनायेजानेवाले–घर का पूरा आकार-प्रकार दिखाई देता है। उसीके अनुसार सामग्री के सन्निवेश से वह उसको उभारलेता है। कार्य की उत्पत्ति के लिए कारणसामग्री के उपादान-नियम का यही आधार है। कारण में कार्य अनभिव्यक्त–अनुत्पन्न रहता है; यदि पहले ही अभिव्यक्त–उत्पन्न हो, तो उसकी उत्पत्ति व अभिव्यक्ति अनावश्यक है ॥ ५० ॥

फलप्राप्ति में वृक्षफल दृष्टान्त असंगत—प्रसंगागत चर्चा को पूराकर 'वृक्षफलवत्' [सूत्र ४७] दृष्टान्त के आधार पर कालान्तर से फलप्राप्ति के विषय में शिष्य द्वारा उद्‌भावित आशंका को आचार्य ने सूत्रित किया—

आश्रयव्यतिरेकाद् वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ॥ ५१ ॥ (३६५)

[आश्रयव्यतिरेकात्] आश्रय के भेद से [वृक्षफलोत्पत्तिवत्] वृक्षफल की की उत्पत्ति के समान (अग्निहोत्रादिकर्मफल कालान्तर में सम्भव है), [इति] यह [अहेतुः] साधक नहीं है (अभिलषित का)।

जलसेचन व खाद आदि का प्रयोग वृक्ष के मूल में कियाजाता है; और फल भी वृक्ष पर लगता है; दोनों (जलसेचन आदि तथा फलोत्पत्ति) का आश्रय एक वृक्ष है। परन्तु अग्निहोत्र आदि कर्म और उसके फल में यह स्थिति नहीं है। कर्म इस चालू शरीर से कियाजाता है, तथा फल–इस शरीर के नष्ट होजाने के अनन्तर जन्मान्तर में–अगला शरीर मिलने पर प्राप्त होता है। इसमें कर्म और फल के आश्रय का भेद होजाता है। इसलिए उक्त दृष्टान्त अग्निहोत्र आदि कर्म के कालान्तर में होनेवाले फल का साधक नहीं होसकता ॥ ५१ ॥

कर्मफल कालान्तर में कैसे—आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ॥ ५२ ॥ (३६६)

[प्रीतेः] प्रीति के–सुख के [आत्माश्रयत्वात्] आत्माश्रय होने से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध (कर्मफलप्राप्तिविषयक) संगत नहीं है।

प्रीति-सुख आत्मा का गुण है; आत्मा उसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है, यह सब जानते हैं। अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठाता आत्मा होता है। शरीर आदि उसके कार्यों में साधनमात्र हैं। अग्निहोत्र आदि के अनुष्ठान से जो धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट उत्पन्न होता है, उसका आश्रय आत्मा है। इसलिये अग्निहोत्र आदि का अनुष्ठाता आत्मा अग्निहोत्रजनित धर्म का आश्रय होता है, तथा धर्म से जनित सुख का आश्रय भी आत्मा है, वही उस सुख का भोग करता है। इन सबका आश्रय एक होने के कारण शरीर के आधार पर आश्रयभेद की कल्पना असंगत

होने से उक्त प्रतिषेध अनुपपन्न है। कर्म करनेवाला आत्मा कालान्तर में कर्म-जनित सुख-रूप फल को प्राप्त करता है, अन्य कोई नहीं ॥ ५२ ॥

कर्म का फल सुख नहीं—शिष्य जिज्ञासा करता है—कर्म-फल के रूप में लोक तथा शास्त्र पुत्र, पशु, स्त्री, सम्पदा आदि का परिगणन करता है, सुख का नहीं। वह कोई फल नहीं मानाजाना चाहिये। आचार्य ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् ॥ ५३ ॥ (३९७)

[न] नहीं (सुख, कर्मों का फल) [पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफल-निर्देशात्] पुत्र, पशु, स्त्री, परिच्छद (—पारिवारिक सम्पदा), हिरण्य, अन्न आदि का फल के रूप में निर्देश होने से।

लोक के अतिरिक्त शास्त्र में भी याग का फल पुत्र आदि बताया है—'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत'—पुत्रप्राप्ति की कामनावाला व्यक्ति पुत्रेष्टि से याग करे। इसीप्रकार पशु, हिरण्य, परिच्छद, अन्न आदि फल की प्राप्ति के लिये ग्राम (भूमि-सम्पत्ति) की कामना को लक्ष्य कर याग का विधान है—'ग्रामकामो यजेत'। भूसम्पत्ति प्राप्त होने पर पशु, अन्न आदि फल अनायास प्राप्त होते रहते हैं। इसलिये प्रीति (सुख) को याग आदि कर्म का फल बताना युक्त नहीं है ॥ ५३ ॥

सुख ही कर्म का फल—आचार्य ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

तत्सम्बन्धात् फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः ॥ ५४ ॥ (३९८)

[तत्-सम्बन्धात्] उन (पुत्रादि) के सम्बन्ध से [फलनिष्पत्तेः] सुख-रूप फल की सिद्धि होने के कारण [तेषु] उन (पुत्र आदि) में [फलवत्] फल के समान [उपचारः] गौण व्यवहार होता है।

'पुत्र, स्त्री तथा अन्य समस्त साधन-सामग्री से—सम्बद्ध व्यक्ति को—सुख की प्राप्ति होती है, इसलिये यहाँ फल केवल सुख है। पुत्र आदि में फल का व्यवहार गौण है; इसलिये सुख और उसके कारण अदृष्ट (धर्म-अधर्म) का एक अधिकरण आत्मा है, इसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। यह ऐसा ही गौण व्यवहार है, जैसे प्राण-साधन अन्न में 'प्राण' पद का गौण व्यवहार देखाजाता है—'अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः' [माश—६।६।४।५॥ २।२।१।६॥ ३।८।।४।८॥ ४।३।४।२५॥]—प्राणियों का प्राण अन्न है। वस्तुतः अन्न प्राण-जीवन नहीं, प्रत्युत जीवन का साधन है ॥ ५४ ॥

दुःख-प्रमेय की परीक्षा—प्रमेय सूत्र [१।१।९] में फल के अनन्तर दुःख का निर्देश है। अतः क्रमप्राप्त दुःख की परीक्षा कीजानी चाहिये। आचार्य

ने कहा है–'बाधनालक्षणं दुःखम्' [१ । १ । २१], बाधना, पीड़ा, ताप ही दुःख है । जिज्ञासा है–क्या यह उस सुख का अभावमात्र है–सुख का प्रतिषेध; जिस सुख का समस्त प्राणि-जगत् प्रत्यक्ष अनुभव करता है ? अथवा दुःख का अन्य कोई प्रकार है ? अन्य कोई विशिष्ट स्वरूप है ?

आचार्य का कहना है–दुःख अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है; सुख का प्रतिषेध नहीं है । तात्पर्य है–'दुःखमेव सर्वम्' कहकर शास्त्र ने समस्त संसार को जो दुःखरूप बताया है, उसके अनुसार प्रमेयसूत्र में दुःख का कथन क्या सुख के अस्तित्व का प्रतिषेध करने की भावना से कियागया है ? अथवा दुःख का स्वतन्त्र अस्तित्व बोधन कराने के लिये कथन है ? इसमें आचार्य सूत्रकार को दूसरा विकल्प मान्य है । दुःख का उद्देश सुख के प्रतिषेध के लिये नहीं है । समस्त प्राणि-जगत् जिस सुख का प्रत्यक्ष अनुभव करता है, उसका प्रत्याख्यान कियाजाना अशक्य है । संसार में सुखानुभव को झुठलाया नहीं जा सकता–तब दुःख के उद्देश तथा 'दुःखमेव सर्वम्' का क्या तात्पर्य है ? इस कथन का क्या विशेष प्रयोजन है ? यह स्पष्ट होना चाहिये ।

आचार्य ने बताया–यह विशेषरूप से दुःख का उद्देश–संसार की ओर से मुँह मोड़कर–वैराग्य की भावना को जागृत करने के लिये कियागया है । जन्म-मरण का अनवरत क्रम दुःख का मूल है, इस दुःख से छुटकारा पाने की भावना से व्यक्ति सब ओर दुःख-ही-दुःख देखता है, तो उससे खिन्न होकर विरक्ति की ओर अग्रसर होजाता है । उसे दीखने लगता है–ये सब प्राणि-देह, सब लोक, सब योनियाँ, समस्त जन्म विविध प्रकार के दुःखों से सने हुए हैं; इनमें कोई ऐसा स्थान नहीं, जिसका दुःखों से साहचर्य न हो । इसीलिये ऋषियों ने दुःख को बाधना-पीड़ा-स्वरूप बताया है, और इस सबमें दुःख की भावना का उपदेश किया है । 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' [पा० यो० २ । १५]–विवेकशील व्यक्ति के लिये यह सब ही दुःखमात्र है । इसी भावना से प्रस्तुत दुःख-प्रसंग में आचार्य सूत्रकार ने बताया—

विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः ॥ ५५ ॥ (३९९)

[विविधबाधनायोगात्] अनेक प्रकार के दुःखों का सम्बन्ध होने से [दुःखम्] दुःख [एव] ही है [जन्मोत्पत्तिः] जन्म का होना (पुनः-पुनः आत्मा का शरीर धारण करना) ।

शरीर, इन्द्रियाँ, और इन्द्रियों के द्वारा होनेवाले ज्ञान सब उत्पाद-विनाश-शील हैं । भूत-तत्त्वों के सन्निवेश-विशेष से शरीर आदि का प्रादुर्भाव होता है, यही उत्पत्ति अथवा जन्म है । शरीर आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मा में जन्म का उपचार होजाता है । आत्मा स्वरूप से अजन्मा, अजर, अमर,

नित्य है। शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर यह नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है। वे दुःख–हीन, मध्यम, उत्कृष्ट आदि रूप में अनेक प्रकार के देखेजाते हैं। नारकी आत्माओं को उत्कृष्ट (महान्-गहरा) दुःख भोगना होता है। पशु-पक्षियों को मध्यम, तथा मनुष्यों को होनेवाले दुःख की मात्रा हीन मानीगई है। देवों (विद्वानों-ज्ञानियों) एवं वीतराग व्यक्तियों को होनेवाला दुःख हीनतर कहाजाता है। इसप्रकार कोई ऐसा उत्पत्तिस्थान नहीं, जो विविध दुःखों से सना हुआ न हो। इस वास्तविकता को समझते हुए व्यक्ति के मस्तिष्क में–ऐहिक सुख और सुख के साधन शरीर-इन्द्रिय आदि सब दुःख के मूल हैं–ऐसी भावना स्थिर होजाती है। यह भावना समस्त लौकिक सुख-साधनों के प्रति आकर्षण को समाप्त करदेती है; इससे उनके प्रति व्यक्ति की तृष्णा उच्छिन्न होजाती है। तृष्णा न रहने से वह सब दुःखों से छूटजाता है।

सांसारिक सुखों को ऐसा समझना चाहिये, जैसा विष मिला हुआ दूध। जो इस बात को जानता है–इस दूध में विष मिला हुआ है, वह उसको ग्रहण नहीं करता, और मृत्यु-दुःख से बचजाता है। जो इस तथ्य को नहीं जानता, वह विषयुक्त दूध का उपयोग करता है, और मृत्यु-दुःख को प्राप्त होता है। यही स्थिति सांसारिक सुखोपभोगों की है। इससे जन्म-मरण के अनवरत क्रम में आत्मा फँसा रहता है, तथा दुःख भोगता है ॥ ५५ ॥

सुख भी है संसार में—संसार के दुःखमय विवरण का यह तात्पर्य नहीं कि सुख का नितान्त अस्तित्व संसार में नहीं है। दुःखों के बीच सुख बराबर प्राप्त हुआ करता है। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

सुखस्याप्यन्तरालनिष्पत्तेः ॥ ५६ ॥ (४००)

[सुखस्य] सुख की [अपि] भी [अन्तरालनिष्पत्तेः] बीच-बीच में प्राप्ति से (संसार में सुख का अप्रत्याख्येय अस्तित्व है)।

पूर्वोक्त दुःख-विवरण से संसार में सुख के अस्तित्व का प्रतिषेध नहीं होता। दुःखों के बीच में सुख प्राप्त होतारहता है। प्रत्येक शरीरी प्राणी इसका अनुभव करता है। ऐसे अनुभूयमान सुख से सर्वात्मना नकार नहीं कियाजा-सकता ॥ ५६ ॥

आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में और बताया—

बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः ॥ ५७ ॥ (४०१)

[बाधनाऽनिवृत्तेः] दुःख की निवृत्ति न होने से [वेदयतः] जानते हुए व्यक्ति के (सुख-साधनों को) [पर्येषणदोषात्] पर्येषण–सुखप्राप्ति की अभिलाषा में बाधा-(रुकावट) रूप दोष से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध नहीं होता (सुख के अस्तित्व का)।

संसार में प्राणी को दुःख निरन्तर लगा रहता है, इस कारण वैराग्य की भावना को जागृत करने के लिये सब वस्तुओं में दुःखरूप होने का उपदेश कियाजाता है; सुख का सर्वथा अभाव होने के कारण नहीं। इसलिये प्रमेय सूत्र में दुःख के कथन से सुख का संसार में प्रतिषेध नहीं समझना चाहिये। व्यक्ति इस तथ्य को जानता है कि अमुक साधनों से सुख की प्राप्ति होसकती है। उन सुख-साधनों को प्राप्त करने तथा दुःख-साधनों को दूर करने के लिये वह सदा प्रयत्न करता रहता है। सुख-साधनों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने के अवसरों पर अनेक प्रकार के दुःख सिर उठाते रहते हैं। वह दुःखों के अनुभव का ढेर सबको दुःख कहदेने के लिये व्यक्ति को बाध्य करदेता है। इससे सुख के अस्तित्व का लोप नहीं होजाता।

सुख का साधन संसार में अर्थ-सम्पदा को समझाजाता है। ऐसे साधनों के सम्पादन में कष्टों की गाथा को एक कवि ने इसप्रकार गाया है—

अर्थानामर्जने दुःखं अर्जितानां च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान्॥

अर्थों के अर्जन में—कमाने में दुःख, अर्जित अर्थों की रक्षा करने में दुःख। चोर, डाकू, राजा आदि द्वारा अर्जित सम्पदा के अपहरण होजाने का भय व चिन्ता सम्पन्न व्यक्ति को सदा सताया करते हैं। इसप्रकार अर्थों के आने और जाने में सदा दुःख ही दुःख है; ऐसे कष्ट के भण्डार सम्पदाओं को धिक्कार है! सुख-साधनों के विषय में ऐसी भावना का मुख्य प्रयोजन केवल संसार की ओर से वैराग्य को उत्पन्न करना है। अनुभूयमान सुख के अस्तित्व का प्रतिषेध करना इसका प्रयोजन नहीं है।

संसार में आकर व्यक्ति सुख की कामना करता है, यह उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। सुख पाने के लिये उसके साधनों को जुटाने में लगजाता है। वैषयिक सुख-साधनों के अर्जन की यह तृष्णा—उत्सुकता सुरसा के समान मुँह बाये दिनों-दिन बढ़ती चलीजाती है। वह प्रार्थना करता है—संसार के समस्त सुख-साधन उसे अनायास प्राप्त होजायें। उन सुख-साधनों की सूची कठ उपनिषद् [१।१। २२–२५] में यमाचार्य ने नचिकेता के सन्मुख प्रस्तुत की है। सुख-साधनों की प्राप्ति के लिये व्यक्ति की यह प्रार्थना व प्रयत्न जब पूरा नहीं होता, अथवा पूरा होकर नष्ट होजाता है, या पूरा होने में कुछ कमी रहजाती है, अथवा प्रार्थना के सर्वथा प्रतिकूल स्थिति सामने आजाती है, तब व्यक्ति को विविध प्रकार के मानस सन्ताप सताया करते हैं। चला तो था सुख की प्राप्ति के लिये, पर पल्ले में पड़ा निरा दुःखों का अम्बार। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते मानव की शारीरिक व मानसिक क्षमता क्षीण होजाती है; परलोक-यात्रा के आसार दिखाई देने लगते

हैं; तब व्यक्ति हाथ मलता रहजाता है। मानव की इस समस्त परिस्थिति को आचार्य ने सूत्र के 'पर्येषणदोष' पद से अभिव्यक्त किया है।

इसप्रकार जान-बूझकर सुखों के साधन में लिपटे हुए व्यक्ति के सामने दुःखों की परम्परा निरन्तर बनीरहती है। सुखों के अन्तराल में भी दुःखों का क्रम बने रहने से समस्त प्रवृत्तियों में दुःख संज्ञा की भावना का कथन कियाजाता है। संसार में दुःख की भावना वैराग्य को जन्म देती है। विरक्त व्यक्ति साधना करता हुआ मिथ्याज्ञान के फाँस से अलग होकर दुःख की इस परम्परा से दूर होजाता है। वस्तुतः संसार में आना अर्थात् जन्म होना ही दुःख का मूल है। इससे संसार में होने वाले वैषयिक सुखों का अभाव परिलक्षित नहीं होता।

पुराने अनुभवी आचार्यों ने बताया है—कामनाओं की पूर्ति के लिये प्रयत्न करता हुआ व्यक्ति दिनों-दिन कामनाओं से घिरता चलाजाता है। एक कामना की पूर्ति होने तक अन्य नई दस कामनाएँ सिर उठालेती हैं। यदि मानव सागर-पर्यन्त भूमि पर उपलब्ध समस्त सम्पदाओं को प्राप्त करलेता है, तो भी सम्पन्न व्यक्ति की अन्य सम्पत्ति-प्राप्ति की अभिलाषा तृप्त नहीं होती। तब वस्तुतः धन की कामना में सुख कहाँ ? ॥ ५७ ॥

संसार दुःख क्यों—संसार दुःखमय है, इस भावना के उपदेश का कारण आचार्य सूत्रकार ने बताया—

दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ॥ ५८ ॥ (४०२)

[दुःखविकल्पे] दुःखों के विविध प्रकारों में [सुखाभिमानात्] सुख का अभिमान (भ्रम) होने से [च] तथा।

संसार में दुःख-संज्ञा की भावना का जो उपदेश कियागया है, उसका कारण यह है कि व्यक्ति सुख की प्राप्ति में दृढ़ एवं तत्पर हुआ यह समझता है—संसार में विषय-सुख ही जीवन का परमपुरुषार्थ है। वैषयिक सुख से अतिरिक्त मोक्ष-आनन्द कुछ नहीं है। विषयजनित सुखों के प्राप्त होनेपर जीवन चरितार्थ हो-जाता है, यही जीवन की पूर्ण सफलता है; इन सुखों के प्राप्त होजाने पर कर्त्तव्यों की इतिश्री समझनी चाहिये; तब अन्य कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं रहजाता।

व्यक्ति का यह संकल्प, ऐसा दृढ़ विचार सर्वथा मिथ्याज्ञानमूलक होता है। इस मिथ्या संकल्प से अभिभूत हुआ व्यक्ति वैषयिक सुखों एवं विषय-सुखसाधनों में अनुरक्त रहता है। उनमें लिपटा हुआ सुख-प्राप्ति के लिये चेष्टा कियाकरता है। इसप्रकार की चेष्टाओं में प्रयत्नशील रहते हुए यह आत्मा देह-बन्धन में आकर जन्म, जरा (बुढ़ापा), व्याधि (शारीरिक रोग), आधि (मानस कष्ट), मरण, अनिष्ट की प्राप्ति, इष्ट का वियोग, अभिलाषाओं-कामनाओं की असिद्धि आदि निमित्तों से अनेक प्रकार के दुःखों को भोगतारहता है। इस विविध

दुःखराशि को भी वह सुख मानता है। वह समझता है-यह दुःख सुख का अङ्ग-भूत है, क्योंकि दुःख को प्राप्त किये विना सुख का मिलना सम्भव नहीं होता। तब सुख-प्राप्ति के लिये उतना दुःख उठाना अकिञ्चन है, साधारण बात है। क्योंकि यह दुःखभोग सुख की प्राप्ति के लिये है, इसलिये इसे सुख में ही गिनना चाहिये।

इसप्रकार संसार को सुखमय समझते हुए व्यक्ति की प्रज्ञा विषयसुखों के उपभोग में दबकर नष्टप्राय होजाती है, उसमें मिथ्या-सत्य के विवेक की क्षमता नहीं रहती। ऐसी दशा में आत्मा देह-बन्धन में आकर जन्म-मरण के निरन्तर अनुक्रम को लाँघ नहीं पाता। तब संसार में सुख की भावना का प्रतिपक्ष-संसार को दुःखमय बताने की भावना का उपदेश कियाजाता है। संसार में आत्मा के देह-प्राप्तिरूप जन्म को दुःख इसीकारण बतायाजाता है, क्योंकि वह दुःखों से अनुषक्त है, लिप्त है। दुःख उसे सब ओर से घेरे रहते हैं। उसे दुःख बतायेजाने का यह कारण नहीं है कि संसार में सुख का अभाव है।

शिष्य जिज्ञासा करता है-यदि ऐसी बात है, तो पचपनवें सूत्र में 'दुःखं जन्म' इतना ही कहना चाहिये था, 'दुःखमेव जन्म' ऐसा क्यों कहा? वहाँ 'एव' पद के पाठ से आचार्य का यह तात्पर्य ज्ञात होता है कि वह संसार में जन्म होने पर केवल दुःख की सत्ता को स्वीकार करता है, सुख की सत्ता को नहीं। इससे आचार्य की भावना के अनुसार संसार में सिद्धान्ततः सुख का अभाव बोधित होता है। यहाँ सांसारिक सुख को स्वीकार करने से सिद्धान्त का विरोध स्पष्टतः सामने आजाता है।

आचार्य का समाधान है-सूत्र में 'एव' पद का प्रयोग दुःख के मूल 'जन्म' को वश में करने की भावना का उद्बोधक है; उससे संसार में सुख के अभाव का बोध नहीं होता। जन्म स्वरूप से दुःख नहीं है; प्रत्युत जन्म होने पर दुःख-बाहुल्य के कारण उसे दुःख मानलियागया है। वस्तुतः जन्म स्वरूप से न दुःख है, न सुख। वह सुख-दुःख दोनों की उद्‌भावना के लिये समान है। जैसे जन्म होने पर संसार में दुःख का बाहुल्य देखाजाता है; वैसे ही मोक्ष के समस्त साधनों का सम्पादन जन्म लेने पर, मानव-देह प्राप्त होने पर ही सम्भव है। सांसारिक सुखों का लाभ भी मानव-देह प्राप्ति पर होता है। अन्य प्राणियों को भी वैषयिक सुख प्राप्त होते हैं। जन्म को दुःख बताने का कारण यही है कि व्यक्ति सांसारिक विषयों की ओर से हटकर मोक्षसाधनों के सम्पादन में अपना जीवन लगासके ॥ ५८ ॥

अपवर्ग-परीक्षा—प्रमेयसूत्र में दुःख के अनन्तर 'अपवर्ग' का पाठ है। उसकी परीक्षा कीजानी चाहिये। अपवर्ग का अभाव बताते हुए शिष्य की जिज्ञासा को आचार्य ने सूत्रित किया—

ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः ॥ ५९ ॥ (४०३)

[ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धात्] ऋण, क्लेश और प्रवृत्ति के निरन्तर चालू रहने से [अपवर्गाभावः] अपवर्ग का अभाव है (उक्त कारणों से अपवर्ग के लिये कोई अवसर ही नहीं रहता)।

तीन कारण हैं, जिनके निरन्तर चालू रहने से अपवर्ग के होने में रुकावट होजाती है। वे हैं–ऋण, क्लेश, प्रवृत्ति।

ऋण—वैदिक साहित्य में उपलब्ध वाक्यों से ज्ञात होता है–उत्पन्न होनेवाला बालक ऋणी के रूप में उत्पन्न होता है। बौधायन गृह्यसूत्र के अन्तर्गत परिभाषासूत्र [१। १] में उल्लेख है—"जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणै-ऋर्णवान् जायते–ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः" [द्रष्टव्य–तै० सं० ६। ३। १०]–उत्पन्न व्यक्ति तीन ऋणों से दबा रहता है–ऋषिऋण, देवऋण, पितृऋण। व्यक्ति इन ऋणों को यथाक्रम ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन से, यज्ञ-अग्निहोत्र आदि के अनुष्ठान से तथा सन्तानोत्पादन से चुकाता है। इन ऋणों को चुकाने के लिये कियेजानेवाले कर्मों का सम्बन्ध व्यक्ति के साथ जीवनपर्यन्त बना रहता है। इस विषय में बताया है–"जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चेति। जरया ह एष तस्मात् सत्राद्विमुच्यते मृत्युना ह वा" [द्रष्टव्य–श० १२। ४। १। १॥ तै० आ० १०। ६४] अग्निहोत्र अथवा दर्श-पूर्णमास आदि अनुष्ठान व्यक्ति के बूढ़ा होकर अशक्त होजाने अथवा मृत्यु होनेतक लगे रहते हैं। इनसे छुटकारा तभी होता है, जब व्यक्ति बूढ़ा होकर अशक्त होजाय, अथवा मरजाय। ऐसी दशा में अपवर्ग के लिये अनुष्ठान का कोई अवसर ही नहीं रहता। अतः अपवर्ग का अस्तित्व स्वीकार करना व्यर्थ है।

क्लेश—क्लेशों का सम्बन्ध आत्मा के साथ निरन्तर बना रहता है। व्यक्ति क्लेश से युक्त पैदा होता है, और क्लेश से युक्त मरता है। समस्त जीवन आत्मा विविध क्लेशों से दबा रहता है। शास्त्र [पा० यो० २। ३] में–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश–ये पांच क्लेश बताये हैं। आत्मा इनसे सदा अनुबद्ध रहता है, कभी छुटकारा नहीं पाता। क्लेशों के रहते आत्मा का अपवर्ग कैसा?

प्रवृत्ति—जन्म से लेकर मरणपर्यन्त आत्मा वाणी, मन और शरीर से विभिन्न कार्यों के अनुष्ठान में लगारहता है; इनसे छुटकारा नहीं पाता। यही प्रवृत्ति का स्वरूप है [सूत्र–१। १। १७]। इनसे निरन्तर घिरा हुआ आत्मा अपवर्ग के लिए उपाय कब सोचे, कब करे? इसलिए प्रथम [१। १। २] जो कहागया है–तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होकर फिर अनुक्रम से दोष, प्रवृत्ति, जन्म, दुःख का विनाश होने से अपवर्ग की प्राप्ति होती है, वह सब अनुपपन्न है, सर्वथा आधारहीन ॥ ५९ ॥

ऋण अपवर्ग में बाधक नहीं—आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा के ऋण-विषयक आधार का अग्रिम तीन सूत्रों से समाधान किया। उनमें पहला सूत्र है—

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः ॥ ६० ॥ (४०४)

[प्रधानशब्दानुपपत्तेः] प्रधान (अर्थ-परक) शब्दों (ऋण, जायमान इत्यादि) की अनुपपत्ति-असिद्धि के कारण [गुणशब्देन] गौण (अर्थ-परक) शब्द से [अनुवादः] कथन कियागया है (उक्त सन्दर्भों में अभिलषित अर्थ का)।

'जायमानो ह वै' इत्यादि सन्दर्भ में 'ऋण' एवं 'जायमानः' आदि पद अपने मुख्य अर्थ को न कहकर गौण अर्थ-परक हैं। 'ब्राह्मण'-पद अन्य समस्त वर्णों का उपलक्षण है। 'ऋण' पद का मुख्य अर्थ वह है-जहाँ एक व्यक्ति दूसरे को धन आदि सम्पत्ति इस भावना से देता है कि यह कालान्तर में मुझे वापस मिल-जायगा; तथा दूसरा व्यक्ति इस भावना से उस धन को स्वीकार करता है कि यह धन कालान्तर में मुझे वापस लौटाना है। ऐसी भावना के साथ धन के आदान-प्रदान में 'ऋण' पद का प्रधान-अर्थपरक प्रयोग है। यह अर्थ प्रस्तुत प्रसंग में घटित नहीं होता। ब्रह्मचर्यपालन, अग्निहोत्र, यज्ञादि अनुष्ठान और सन्तानोत्पत्ति में अर्थ के आदान-प्रदान का कोई प्रश्न नहीं है, कोई समस्या नहीं है; इसलिये इन प्रसंगों में ऋण पद का प्रयोग गौणवृत्ति से समझना चाहिये। ये स्थितियाँ क्योंकि ऋण के समान हैं, इसलिए सादृश्य-औपम्य के कारण ब्रह्मचर्य, याग आदि में 'ऋण' पद का प्रयोग करदियागया है। ऋषियों ने ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदादि का अध्ययन कर इस परम्परा को हमतक पहुँचाया है, यह एक प्रकार से हम पर उनका ऋण है। हम उसका अनुष्ठान कर इस परम्परा को आगे अनुवृत्त कर इसको विच्छिन्न न होने दें; यह शास्त्र का तात्पर्य है; यही ऋण से उऋण होना है।

ऐसे प्रयोग वैदिक साहित्य व लोक में अनेक देखेजाते हैं। बालक के तेज, ओज व उत्कट भावनाओं को देखकर कहाजाता है-'अग्निर्माणवकः'—यह बालक तो आग है। वस्तुतः बालक आग नहीं, उसमें अग्नि के तेजस्विता आदि गुणों का अभिव्यञ्जन होने से वैसा कथन कियाजाता है। बालक में जैसे इन गुणों के आधार पर अग्नि पद का प्रयोग गौण है; इसीप्रकार ब्रह्मचर्य, याग आदि में 'ऋण' पद का प्रयोग गौण समझना चाहिये।

जिज्ञासा होती है, यहाँ गुण शब्द से उक्त अर्थ के कथन करने का आधार क्या है? सूत्रकार ने बताया—निन्दा और प्रशंसा की सिद्धि। उत्तमर्ण से ऋण लेकर यदि कोई अधमर्ण लिए ऋण को वापस नहीं करता, तो उसकी निन्दा होती है। ऋण का नियमानुसार वापस करदेना अभिनन्दनीय कार्य समझाजाता है।

इसीके समान ऋषियों–पूर्वजों ने ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन की परम्परा को यहाँ-तक पहुँचाया है; दैवी शक्तियाँ हमको निरन्तर जीवन-साधन प्रदान करती रहती हैं; माता-पिता ने हमको जन्म देकर जीवन-सन्तति को अभीतक अविच्छिन्न रक्खा है। यह सब हमारे ऊपर एक ऋण के समान है। यदि हम ब्रह्मचर्यादि अनुष्ठानों से इन सब ऋणों को उतारते हैं, अर्थात् उन परम्पराओं को चालू रखने में हम अपने जीवन का सहयोग देते हैं, तो यह हमारा एक अभिनन्दनीय कार्य है, हमारी प्रशंसा का जनक है। यदि इन अनुष्ठानों में हम शिथिलता करते हैं, और ज्ञान, सामाजिक पोषण तथा पारिवारिक तन्तुओं को विच्छिन्न करदेते हैं, तो निश्चित ही यह हमारा निन्दनीय कार्य होगा। उक्त सन्दर्भों में इसी भावना को अभिव्यक्त कियागया है कि व्यक्ति अपने जीवन में उन अनुष्ठानों को निष्ठापूर्वक सम्पन्न करे। इसीमें समस्त ज्ञान, समाज, परिवार एवं राष्ट्र का सर्वतोमुखी अभ्युदय निहित रहता है। उक्त कर्मों की आवश्यक अनुष्ठेयता में शास्त्र का तात्पर्य है।

उदाहृत सन्दर्भ में 'जायमानः' पद भी अपने प्रधान अर्थ को न कहकर गौण अर्थ का बोध कराता है। 'जायमानो ह वै ब्राह्मणः' का तात्पर्य है–गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता हुआ व्यक्ति। यदि 'जायमानः' पद का 'सद्यः उत्पन्न बालक' अर्थ कियाजाता है, तो यह अनुपपन्न है, क्योंकि जातमात्र शिशु किसी भी पूर्वोक्त अनुष्ठान में सर्वथा अक्षम होता है। शास्त्र उस दशा में किसी अनुष्ठान के लिए उसे अधिकारी नहीं बताता। शक्तिसम्पन्न होजाने पर किसी कार्य में प्रवृत्ति का होना सम्भव होता है। अतः 'जायमानः' पद यहाँ अपने मुख्य अर्थ-उत्पन्न हुआ शिशु–को छोड़कर, गौण अर्थ–शक्तिसम्पन्न होजाने–को प्रकट करता है।

ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन के लिए अधिकारी उपनयन के अनन्तर माना-जाता है। ऋषि-ऋण के उतारने का यह उपक्रम है। गृहस्थ होजाने पर वेदाध्ययन छोड़ना न चाहिये। यज्ञादि अनुष्ठान के द्वारा देवऋण, तथा सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण से उऋण होना इसी आश्रम में सम्भव है। राजसूय, वाजपेय, ज्योतिष्टोम आदि याग तथा दर्श-पूर्णमास आदि इष्टियाँ किन्हीं विशेष कामनाओं–निमित्तों से प्रेरित होकर कियेजाते हैं। माता से सद्यः जायमान शिशु में–किसी यज्ञादि अनुष्ठान के लिए विशिष्ट कामना से प्रेरित होना तथा अनुष्ठान की क्षमता का होना–इन दोनों बातों का अभाव रहता है। इसलिए पूर्वोक्त वैदिक वाक्य में 'जायमानः' पद का तात्पर्य समर्थ होने व गृहस्थ होने से है, तत्काल उत्पन्न शिशु से नहीं। साधारण अनाड़ी व्यक्ति भी जातमात्र बालक को यह नहीं कहसकता कि तू ब्रह्मचर्य का पालन कर, वेद पढ़, यज्ञ का अनुष्ठान कर आदि। तब प्रामाणिक यथार्थ का उपदेश करनेवाला शास्त्र ऐसा कथन कैसे करसकता है? जो विचारपूर्वक कार्य करनेवाले सर्वज्ञकल्प

साक्षात्कृतधर्मा का उपदेश है। नर्त्तक अन्धों में तथा गायक बहरों में प्रवृत्त नहीं होता। तब शास्त्र अनधिकारी एवं अक्षम के विषय में कैसे प्रवृत्त होगा?

उपदेश की सफलता इसीमें है, कि उपदेश्य व्यक्ति उपदिष्ट अर्थ को जाने, समझे। यदि वह उपदिष्ट अर्थ को जान-समझ नहीं सकता, तो उसके लिए उपदेश करना व्यर्थ है। शास्त्र का उपर्युक्त उपदेश जायमान बालक के विषय में कियागया सम्भव नहीं। न वह उस अवस्था में उक्त अनुष्ठानों के लिये समर्थ होता है, और न वह तबतक वेदादि अध्ययन एवं यागादि अनुष्ठान के अधिकार को प्राप्त करसका है। इसके अतिरिक्त उक्त विषय का प्रतिपादक शास्त्र व्यक्ति के द्वारा कर्मानुष्ठान में पत्नी के सम्बन्ध को आवश्यक बताता है। यह गार्हस्थ्य का लिङ्ग है। इसलिये उक्त सन्दर्भ में 'जायमानः' पद का तात्पर्य—गृहस्थ में प्रवेश करता हुआ व्यक्ति समझना चाहिये।

कर्मानुष्ठान जरापर्यन्त कब—उपर्युक्त दूसरे सन्दर्भ में जो यह बतायागया है कि कर्मानुष्ठान का अनुक्रम बुढ़ापा व मृत्युपर्यन्त बराबर चालू रहता है, ऐसी दशा में अपवर्ग के उपायों का अनुष्ठान करने के लिए समय न रहने से अपवर्ग का मानना निराधार होजाता है। इस विषय में आचार्यों का कहना है कि बुढ़ापा व मृत्यु तक कर्मानुष्ठान का कथन उसी दशा में है, जब अनुष्ठाता की फलप्राप्ति-विषयक कामना बनी रहती है। जिन विशिष्ट फलों को प्राप्त करने की इच्छा से विशेष याग आदि का अनुष्ठान कियाजाता है, वह इच्छा यदि फलों की ओर से वैराग्य के कारण नष्ट होचुकी है, तो यागादि के अनुष्ठान का प्रश्न नहीं रहता। 'जरा' (बुढ़ापा) का तात्पर्य है—वैराग्यपूर्वक प्रव्रज्या (संन्यास) का ग्रहण करना। इसलिए जबतक वैराग्य नहीं होता, कामना बनी रहती हैं; तभीतक कर्मानुष्ठान अपेक्षित होता है। फलों के प्रति वैराग्य होजाने से कामनाओं के अभाव में अपवर्ग की साधना के लिये समर्थ जीवन का पर्याप्त भाग उपयोग में लायाजासकता है।

'जरा' पद का तात्पर्य—उक्त सन्दर्भ में 'जरा' पद का तात्पर्य ऐसे बुढ़ापे से नहीं है, जहाँ व्यक्ति अपना शारीरिक व मानसिक आदि सब प्रकार का सामर्थ्य खोबैठा हो। यदि फलों के प्रति उसकी कामना तब भी बनी हुई हैं, तो स्वयं अशक्त होने पर वह अपने निर्धारित प्रतिनिधि के द्वारा कर्मानुष्ठान करा-सकता है। प्रतिनिधि उसका अन्तेवासी छात्र होसकता है, जिसको उसने वेद का अध्ययन कराया है; अथवा अपने दूध का सम्बन्धी—भाई, पुत्र, भतीजा, पोता आदि होसकता है, जो अनुष्ठान का पारिश्रमिक देकर प्रतिनिधि बनायाजाता है। व्याख्याकारों ने सन्दर्भ के 'क्षीरहोता' पद का अर्थ 'अध्वर्यु' किया है। तात्पर्य है—क्षीर अर्थात् वृत्ति के लिये—अपने जीवन-निर्वाह के लिये जो 'होता' बनता हो; पारिश्रमिक लेकर यज्ञानुष्ठान करने-करानेवाला व्यक्ति। फलतः

उक्त सन्दर्भ में 'जरा' पद का तात्पर्य–ऐसा बुढ़ापा नहीं है, जब व्यक्ति सर्वथा शरीर आदि से असमर्थ होजाता है। क्योंकि कामनाओं के रहने पर अशक्त का भी कर्मानुष्ठान से छुटकारा नहीं। अपने प्रतिनिधि द्वारा उसे करासकता है। इसलिये 'जरा' पद का तात्पर्य–कर्मफलों के प्रति वैराग्य की भावना का होना–समझना चाहिये।

प्रस्तुत प्रसंग में एक अन्य विचार करना शेष रहजाता है। 'जायमानो ह वै ब्राह्मणः' इत्यादि सन्दर्भ कर्मानुष्ठान का विधायक है? अर्थात् विधिवाक्य है? अथवा विधिवाक्य द्वारा अन्यत्र विहित अर्थ का केवल अनुवाद करता है? अनुष्ठान के लिये स्मरणमात्र करा देता है? आचार्यों का कहना है–इसे विहित अर्थ का अनुवादमात्र समझना उपयुक्त होगा; क्योंकि इस वाक्य में विधि-विभक्ति का निर्देश नहीं है। विधिवाक्य न होने से यह आवश्यक नहीं रहजाता कि व्यक्ति जरा व मृत्यु-पर्यन्त कर्मानुष्ठान करता रहे। वह कर्मानुष्ठान को छोड़कर अपवर्ग-साधना के लिये अपना जीवन लगासकता है।

तब क्या 'जायमानः' इत्यादि सन्दर्भ को निरर्थक समझना चाहिये? नहीं, वह निरर्थक नहीं है; उसका प्रयोजन है–जब व्यक्ति सक्षम होता है, अथवा गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कररहा होता है, उस समय कुछ उत्तरदायित्व उस पर आयद होजाते हैं, जिन्हें उक्त सन्दर्भ में 'ऋण' पद से अभिव्यक्त कियागया है। यद्यपि ये मुख्यरूप में 'ऋण' नहीं होते; परन्तु व्यक्ति पर ऋणों का उत्तरदायित्व जिस स्थिति को प्रकट करता है, वैसी ही स्थिति इन उत्तरदायित्वों के विषय में मानीजाती है। इसीकारण 'ऋण' न होते हुए भी इनको 'ऋण'-पद से अभिव्यक्त कियागया है। ऐसा कथन स्पष्ट करता है—सक्षम होता हुआ अथवा गृहस्थ होता हुआ व्यक्ति सर्वथा स्वतन्त्र नहीं होता; वह इन उत्तरदायित्वों से दबा रहता है, इनका सम्पन्न करना उसके लिये आवश्यक होता है। यही बोध कराना इस सन्दर्भ का प्रयोजन है। इसलिये विधिवाक्य न होने पर भी इसे निरर्थक न समझना चाहिये।

पीछे कहागया–कर्मानुष्ठान कामनामूलक है। कामना एक बालक को भी होसकती है। तब बालक को कर्मानुष्ठान का अधिकार मानना चाहिये। ऐसी दशा में उक्त सन्दर्भ के 'जायमानः' पद से बालक का ग्रहण क्यों न कियाजाय?

वस्तुतः इस विषय में समझने की बात यह है कि जो प्रयत्न व्यक्ति के द्वारा कियाजाता है, वह फल के लिये न होकर फल के साधनों को सम्पन्न करने के लिये होता है। तात्पर्य है—प्रयत्न का साक्षात् विषय-फल नहीं होता; प्रत्युत वे साधन होते हैं, जो फलों को उत्पन्न करते हैं। व्यक्ति अपने प्रयत्न से फलोत्पादक साधनों का संग्रह व सम्पादन करता है। साधनों के सम्पन्न होने पर वे फलों को अनिवार्यरूप से उत्पन्न करदेते हैं। इस वास्तविकता को समझलेने

से यह स्पष्ट होजाता है कि बालक में कामना के होने पर भी फलोत्पादक अपेक्षित साधनों के सम्पादन की क्षमता नहीं रहती। साधनों के लिये प्रयत्न करना बालक की शक्ति से बाहर की बात है। इसलिये कामना के होते भी सामर्थ्य के अभाव से बालक का कर्मानुष्ठान में अधिकार सम्भव नहीं होता। अतः 'जायमानः' पद से बालक का ग्रहण करना अनुपपन्न है। फलोत्पत्ति के साधन याग आदि विशेष प्रयत्न-साध्य होते हैं, बालक में उसका सर्वथा अभाव रहता है।

इस विषय में यह ध्यान देने की बात है कि 'जायमानो ह वै ब्राह्मणः' इत्यादि सन्दर्भ को चाहे विधिवाक्य मानाजाय, अथवा विहितानुवाद, दोनों अवस्थाओं में कर्मानुष्ठान से जिसका सम्बन्ध होगा, उसीका ग्रहण 'जायमानः' पद से कियाजायेगा। जातमात्र बालक का कर्मानुष्ठान से सम्बन्ध असम्भव है, अतः यह पद उसका बोधक नहीं मानाजासकता। तब इसका तात्पर्य--सशक्त एवं गृहस्थ 'होता' व्यक्ति समझना होगा।

'प्रव्रज्या' शास्त्रीय विधान—अपवर्ग-साधन के लिये प्रथम प्रव्रज्या-काल का निर्देश कियागया है। परन्तु प्रव्रज्या का–शास्त्र के अभिमत प्रसंगों में–कहीं विधान नहीं है। गार्हस्थ्य का विधान तो ब्राह्मणादि ग्रन्थों में प्रत्यक्ष देखाजाता है। यदि गृहस्थ से अतिरिक्त अन्य कोई आश्रम शास्त्र को मान्य होता, तो उसका वह विधान करता। अतः 'प्रव्रज्या' कोई आश्रम शास्त्रविहित न होने से अपवर्ग-साधन के लिये जीवन में अवसर का न होना स्वभावतः प्राप्त होता है। तब अपवर्ग का अभाव मानना संगत होगा।

आचार्य का इस विषय में कहना है–प्रव्रज्या के प्रतिषेध का भी तो शास्त्र में कहीं विधान नहीं देखाजाता। 'गृहस्थ एकमात्र आश्रम है, गृहस्थ से अतिरिक्त अन्य कोई आश्रम नहीं' ऐसा आश्रमान्तर के प्रतिषेध का वाक्य कहीं ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। इसलिये प्रव्रज्या के विधान का शास्त्र में अभाव कहकर अपवर्ग के साधनों के लिये जीवन में अनवसर का निर्देश करना अयुक्त है। जबकि इसके विपरीत शास्त्र में प्रव्रज्या का विधान उपलब्ध होता है। ब्राह्मणोपजीव्य जाबाल उपनिषत् [४] में बताया है—

> **"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्, गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्॥"**

ब्रह्मचर्य आश्रम समाप्त कर गृहस्थ होजावे, गृहस्थ को पूराकर वानप्रस्थ होजावे, वानप्रस्थ पूरा कर प्रव्रज्या (संन्यास) ग्रहण कर ले। अथवा इसमें व्यतिक्रम होसकता है–ब्रह्मचर्य आश्रम से ही प्रव्रज्या ग्रहण करले, अथवा गृहस्थ

से, अथवा वानप्रस्थ से। चाहे ब्रह्मचर्य व्रत का विधिपूर्वक पालन न कररहा हो, अथवा कररहा हो; विद्याध्ययन पूरा कर स्नातक होचुका हो, अथवा न हुआ हो; अग्निहोत्र आदि दैनिक यज्ञ-होम छोड़ चुका हो, अथवा करता ही न हो; पर जिस दिन व्यक्ति को तीव्र वैराग्य होजावे, उसी दिन प्रव्रज्या ग्रहण करले।

प्रव्रज्या के लिये तीव्र वैराग्य का होना अपेक्षित है; गृहस्थ आदि आश्रम का इसमें कोई बन्धन या रुकावट नहीं है। लौकिक विषयों की ओर से तीव्र वैराग्य होने पर प्रत्येक अवस्था में संन्यास ग्रहण कियाजासकता है। ऐसी दशा में अपवर्ग-साधन के लिये जीवन के पर्याप्त भाग का उपयोग होना सम्भव है; तब केवल अपवर्ग-साधन के लिये अनवसर का बहाना बनाकर अपवर्ग के अस्तित्व को भुठलाया नहीं जासकता।

इस विषय में यह विचारणीय है–प्रत्येक शास्त्र अपने प्रतिपाद्य विषय का विवरण प्रस्तुत करता है, अन्य शास्त्रों के प्रतिपाद्य अर्थ का प्रतिषेध नहीं करता। अग्निहोत्र के विधायक वाक्य से ज्योतिष्टोम अथवा वाजपेय आदि यागों का अभाव सिद्ध नहीं होता। सांख्य-योग आदि शास्त्रों द्वारा अपने प्रतिपाद्य अर्थ का विधान करने से अन्य न्याय-वेदान्त आदि शास्त्रों का अभाव सिद्ध नहीं होजाता। ऐसे ही 'जायमानो ह वै ब्राह्मणः' इत्यादि वाक्य अपने शास्त्र में गृहस्थ आश्रम के प्रसंग का है। वह साक्षात् गृहस्थ का विधान करता है; इससे अन्य आश्रमों का अभाव सिद्ध नहीं होता।

इसके अतिरिक्त वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में अपवर्ग का निरूपण करनेवाले अनेक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। यजुर्वेद [३१। १८] में मन्त्र है—

वेदाऽहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

तमस्-अज्ञान, मोह अथवा प्रकृति से परे उस महान् पुरुष परमात्मा को जानकर ही व्यक्ति मृत्यु–नश्वर संसार को पार करजाता है; मोक्षपद को प्राप्त करलेता है। अपवर्ग की प्राप्ति के लिये परमात्मज्ञान से अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग–उपाय नहीं है।

इस विषय में ब्राह्मण आदि वैदिक साहित्य के अनेक प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमिच्छमानाः।
अथापरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः॥
न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां बिभ्राजते तद् यतयो विशन्ति॥

[तै० आ०, १०। १०। ३]

अन्य ब्राह्मणग्रन्थों में भी ये प्रसंग उपलब्ध होते हैं—

शतपथ ब्राह्मण [१४। ७। २। २५] में सन्दर्भ है—'एतमेव प्रव्राजिनो

लोकमीप्सन्तः[1] प्रव्रजन्ति'—वैराग्य को प्राप्त हुए व्यक्ति पूर्ववर्णित उस लोक [ब्रह्मलोक-मोक्षपद) की चाहना रखते हुए प्रव्रज्या ग्रहण करलेते हैं। इस सन्दर्भ में साक्षात् प्रव्रज्या (संन्यास) आश्रम में प्रवेश का निर्देश है।

इसके अतिरिक्त कामनायुक्त एवं निष्काम व्यक्तियों का विवरण देते हुए शतपथ ब्राह्मण में अन्यत्र बताया है—

"अथो खल्वाहुः—काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति[2] तथा-क्रतुर्भवति यथाक्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।"

[श० १४।७।२।७]

अनुभवी आचार्यों ने बताया है—यह पुरुष कामनामय है। जैसी कामना होती है, उसीके अनुसार उसका संकल्प होता है, जैसा संकल्प होता है, वैसा कर्मानुष्ठान करता है। अनन्तर कर्मानुसार फल पाता है। ऐसे कामनामय व्यक्ति के विषय में ब्राह्मण आगे लिखता है—'इति नु कामयमानः' यह पूर्वोक्त विवरण कामनाओं से अभिभूत व्यक्ति का दियागया। इसके आगे कामना-हीन व्यक्ति के विषय में बताया—

"अथाऽकामयमानः—योऽकामो निष्काम[3] आत्मकाम आप्तकामो भवति न तस्मात्[4] प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव[5] समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।"

[श० १४।७।२।८]

१. न्यायदर्शन के वात्स्यायन-भाष्य में इसी सूत्र पर 'ईप्सन्तः' के स्थान पर 'अभीप्सन्तः' पाठ उपलब्ध होता है। बृहदारण्यक उपनिषत् [४।४।२२] में 'इच्छन्तः' पाठ है। अर्थ दोनों का समान है। ब्राह्मण और उपनिषत् के पाठभेद का कारण शाखाभेद सम्भव है। उपलब्ध ब्राह्मण शुक्लयजु की माध्यन्दिन-(वाजसनेयि)-शाखा का है, तथा उपनिषत् काण्व-शाखा के शतपथ ब्राह्मण का भाग है। पाठ की अधिक समानता से ज्ञात होता है—वात्स्यायन ने भाष्य में यह उद्धरण ब्राह्मण [मा० शा०] ग्रन्थ से दिया है, उपनिषत् [का० शा०] से नहीं।
२. 'तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति' बृ० उ० पाठ [४।४।५]। वात्स्यायन ने भाष्य में ब्राह्मणानुसारी पाठ दिया है।
३. बृ० उ० में 'आप्तकाम आत्मकामो' इसप्रकार पदों का विपर्यास है। [४।४।६]
४. 'तस्य' बृ० उ० [४।४।६], वात्स्यायन-भाष्य।
५. 'अत्रैव समवनीयन्ते' पाठ नहीं है, [बृ० उ० ४।४।६] वात्स्यायन-भाष्य के उद्धृत सन्दर्भ में 'इहैव समवलीयन्ते' पाठ है। प्रस्तुत प्रसंग के वात्स्यायन-भाष्य में उद्धृत पाठ अधिक समता के कारण ब्राह्मण-ग्रन्थ से लियेगये ज्ञात होते हैं।

तीव्र वैराग्य के कारण जब व्यक्ति लौकिक अथवा वैषयिक कामनाओं से रहित होजाता है, तब कामनामूलक अनुष्ठान एवं कामना के संकल्प को भी वह छोड़ देता है। उसे केवल आत्मज्ञान की कामना रहती है; उसके प्राप्त करलेने पर वह कृतकृत्य होजाता है, प्राप्तव्य को पाचुकता है। मृत्युकाल आने पर उसके प्राण शरीर से उत्क्रमण नहीं करते; अर्थात् कर्मफल भोगने के लिये जन्मान्तर ग्रहण नहीं करते। वे यहीं अपने कारणों में लीन होजाते हैं। वह आत्मदर्शी व्यक्ति ब्रह्म का साक्षात्कार करता हुआ ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है।

वेद एवं वैदिक साहित्य के ये प्रसंग सिद्ध करते हैं–गृहस्थ से अतिरिक्त ब्रह्मचर्य एवं प्रव्रज्या (संन्यास) आदि अन्य आश्रम हैं; जीवन का पर्याप्त भाग इस आश्रमकाल में व्यतीत होता है, जिसका उपयोग आत्मज्ञान के लिये उपायों के अनुष्ठान में कियाजाता है। आत्मसाक्षात्कार होजाने पर अर्थात् आत्मा के स्वरूप-प्रतिष्ठित होजाने पर वह परमात्मा का साक्षात्कार करलेता है; आत्मज्ञान से बीच के आवरण नष्ट होचुके होते हैं। आत्मज्ञान होजाने पर ब्रह्म-साक्षात्कार होना अनिवार्य है। ब्रह्म-साक्षात्कार से ब्रह्मानन्द का प्राप्त होना अपवर्ग का स्वरूप है। इसप्रकार अपवर्ग के प्रमाणित होजाने पर यह कहना अयुक्त है कि ऋणों के अनुबन्ध से अपवर्ग का अभाव मानना चाहिये।

वैदिक साहित्य में चार आश्रमों का उल्लेख व विवरण उपलब्ध होने से–एक ही आश्रम गार्हस्थ्य है–यह कथन अनुपपन्न होजाता है।

बुढ़ापे अथवा मृत्युपर्यन्त अग्निहोत्र व दर्श-पूर्णमास आदि के अनुष्ठान का ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में कथन उन्हीं व्यक्तियों के विषय में कियागया है, जो वैषयिक फलप्राप्ति की कामना रखते हैं ॥ ६० ॥

जरामर्यवाद कर्मियों के लिये—आचार्य सूत्रकार ने इसका कारण बताया—

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः ॥ ६१ ॥ (४०५)

[समारोपणात्] समारोपण से (आहवनीय आदि अग्नियों के [आत्मनि] आत्मा में, [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध अयुक्त है (संन्यास आश्रम का)।

जब मोक्षकाम व्यक्ति को सांसारिक विषयों की ओर से तीव्र वैराग्य उत्पन्न होजाता है, तब कर्मानुष्ठान के लिये आधान कीगई आहवनीय आदि अग्नियों का समारोपण उस [मोक्षकाम] आत्मा में करलियाजाता है। आत्मा में आहवनीय आदि अग्नियों के समारोपण की कल्पना का तात्पर्य है–तब बाह्य अग्नि में फलोत्पादक समस्त कर्मानुष्ठानों का परित्याग, तथा केवल आत्मज्ञान सम्बन्धी अनुष्ठानों को सम्पन्न कियाजाना। यह आत्मा में अग्नियों के समारोपण का विधान संन्यास ग्रहण करने के लिये होता है। जब इसप्रकार संन्यास आश्रम

का ग्रहण करना सिद्ध है, तो अपवर्ग का होना स्वतः सिद्ध है; क्योंकि संन्यास-ग्रहण उसीकी प्राप्ति के लिये कियाजाता है। इसलिये कर्मानुष्ठान के विषय में जरामर्यवाद (बुढ़ापे या मृत्यु तक कर्मानुष्ठान का कथन) उन्हीं व्यक्तियों के लिये है, जो फलार्थी हैं; कर्मानुष्ठान से होनेवाले फलों की कामना रखते हैं।

संन्यास आश्रम शास्त्र-विहित—वैदिक[1] साहित्य में बतायागया है—**प्राजापत्य इष्टि का** सम्पादन कर उसमें सर्ववेदस[2] होम करने के अनन्तर कर्मकाण्ड साधक **आहवनीय आदि** अग्नियों का आत्मा में समारोपण कर तीव्र वैराग्य-युक्त व्यक्ति संन्यास ग्रहण करले। ऐसे प्रमाणों के द्वारा स्पष्ट होजाता है कि जो व्यक्ति पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से रहित होजाते हैं, और कर्मफलों की कामना से दूर हटजाते हैं, उन्हीं व्यक्तियों के आत्मा में अग्निस्थापना की कल्पना का विधान है।

ब्राह्मणग्रन्थ [श० ब्रा० १४। ७। ३। १-१५] में उल्लेख[3] है– एकबार अपने चालू जीवन से भिन्न जीवन-चर्या को स्वीकार करने की भावना से याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को पुकारा, और कहा–अब इस स्थान से प्रव्रज्या लेनेवाला हूँ; चाहता हूँ–तुम अब अन्य पत्नी कात्यायनी के साथ रहती रहो। मैत्रेयी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार न कर कहा–जिस अमृतपद को आप प्राप्त करने के लिए अपने चालू जीवनपथ में परिवर्तन कररहे हैं, मैं भी उसका अनुसरण क्यों न करूँ? मुझे उसी मार्ग का उपदेश कीजिये। याज्ञवल्क्य ने तब विस्तार से आत्मज्ञान के उपायों का वर्णन किया। अन्त में याज्ञवल्क्य ने कहा–मैत्रेयि! पूर्ण उपदेश करदियागया है, यही अमृतपद का स्वरूप है। इतना कहकर याज्ञवल्क्य ने प्रव्रज्या को स्वीकार किया।

---

१. सन्दर्भ है–"प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत्।"

२. सर्ववेदस होम वह होता है, जो संन्यास ग्रहण करने से पूर्व कियाजाता है। इस अवसर पर व्यक्ति अपनी अधिकृत समस्त सम्पत्ति का त्याग करदेता है; अथवा उपयुक्त अधिकारियों को दान करदेता है। सर्ववेदस होम को गृहस्थ व्यक्ति भी अपने आश्रम के अन्तराल-काल में करलिया करते थे। कठ उपनिषत् के प्रारम्भ तथा कालिदासकृत रघुवंश काव्य के पञ्चम सर्ग की प्रारम्भिक कथा में इसके संकेत उपलब्ध होते हैं।

१. सन्दर्भ है–"सोऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यमाणो याज्ञवल्क्यो मैत्रेयीति होवाच। प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति।···उक्तानुशासनासि मैत्रेयि एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज।"

वैदिक साहित्य के इन प्रसंगों में संन्यास आश्रम का प्रत्यक्ष विधान उपलब्ध है। इससे प्रमाणित होजाता है-कर्मानुष्ठान-विषयक जरामर्यवाद केवल फलार्थी व्यक्ति के लिए है। जो फलार्थी नहीं, उनके लिए संन्यास का विधान है, संन्यास क्योंकि अपवर्ग-साधनों के अनुष्ठान के लिए ग्रहण कियाजाता है, इससे अपवर्ग की सिद्धि स्वतः होजाती है ॥ ६१ ॥

चालू जीवन-कर्म मोक्ष के बाधक नहीं—गत विवरण से यह स्पष्ट होजाता है कि अग्निहोत्र आदि कर्म अपवर्ग में बाधक नहीं हैं। परन्तु जो व्यक्ति अपने जीवन के प्रारम्भिक काल अथवा गार्हस्थ्य-जीवन-काल में अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान करता है, अनन्तर वैराग्य होजाने से साधन करते हुए आत्मज्ञानी होजाता है; देहपात होने पर उसका मोक्ष नहीं होना चाहिये। क्योंकि उसी जीवन में अनुष्ठित कर्मों का फल उसे अवश्य मिलना चाहिए। वह फल जन्मान्तर में देहधारण के बिना मिलना सम्भव नहीं। अतः वे फल आत्मज्ञान होजाने पर भी अपवर्ग में बाधक होंगे। आचार्य ने इसका समाधान किया—

पात्रचयान्तानुपपत्तेश्च फलाभावः ॥ ६२ ॥ (४०६)

[पात्रचयान्तानुपपत्तेः] पात्र-चयन के अन्त की अनुपपत्ति से संन्यासी आत्मज्ञानी के लिए [च] तथा (अन्य कारणों की अनुपपत्ति से भी), [फलाभावः] फल का अभाव होता है; फल प्राप्त नहीं होता (आत्मज्ञानी संन्यासी को, गत समीपजीवन में अनुष्ठित कर्मों का)।

बुढ़ापे या मृत्युतक कर्मानुष्ठान के विधान की पूर्णता उस समय मानीजाती है, जब अनुष्ठाता के मरजाने पर उसके शव के साथ अन्त्येष्टि के समय चिता में यज्ञिय पात्रों का चयन करदियाजाता है।[1] जीवन में किये अग्निहोत्र आदि कर्मानुष्ठान का यह अङ्ग मानाजाता है। किसी कर्म के फल की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब उसे अङ्गसहित पूराकियाजाय। संन्यासी के लिए पात्रचयन के साथ अन्त्येष्टि का होना असम्भव है; क्योंकि बाह्य आहवनीयादि अग्नि-सम्बन्धी

---

१. घृतपूर्ण स्रुवा मुख पर, उपभृत वाम हाथ में, जुहू दक्षिण में, चमस सिर के साथ, ध्रुवा वक्ष पर आदि क्रम से पात्रों का चयन कियाजाता है। शतपथ ब्राह्मण [१२।५।२।७] इस विषय में द्रष्टव्य है। आगे ब्राह्मण [१२।५।२।८] में बताया है—"स एष यज्ञायुधी यजमान···योऽस्य स्वर्गे लोको जितो भवति तमभ्यत्येति" उन यज्ञपात्ररूप आयुधों से युक्त हुआ यजमान···स्वर्ग में जो लोक इसने जीत लिया होता है, उसको प्राप्त होजाता है।

कर्म का वह परित्याग करचुका होता है। संन्यासी की अन्त्येष्टि के समय उसके शव के साथ पात्रचयन न होसकने के कारण जीवन में किये अग्निहोत्र आदि कर्म अङ्गहीन रहते हैं, अधूरे,सर्वथा अपूर्ण। ऐसे कर्मों के फल की कोई सम्भावना न होने से आत्मज्ञानी के मोक्ष में फल बाधक नहीं होपाता।

अन्त्येष्टि के समय शव के साथ पात्रचयन साधारणरूप से सबके लिए समान हो, ऐसा नहीं मानाजाता। यदि ऐसा होता, तो एषणाओं को छोड़कर संन्यास का विधान शास्त्र में न कियाजाता। परन्तु शास्त्र में संन्यास का विधान साक्षात् उपलब्ध होता है–

"एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति, ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति॥"

[श० १४।७।३।२६]

यह जानाजाता है–मूर्द्धन्य ज्ञानी, नैष्ठिक विरक्त विद्वान् सन्तान की कामना नहीं करते; कर्मानुष्ठानबहुल गृहस्थ आदि आश्रमों में जाने की इच्छा नहीं रखते। वे विचार करते हैं–सन्तान से हम क्या करेंगे? यह सब धन-सम्पत्ति, कर्मानुष्ठान एवं सन्तान आदि से हमें क्या करना है? जब हमारे लिए यह परब्रह्म परमात्मा सबकुछ है। ऐसा विचारकर वे पुत्र, वित्त और यश आदि की कामनाओं को दूर फेंक भिक्षाचरण से जीवन व्यतीत करदेते हैं।

ये प्रसंग स्पष्ट करते हैं–ऐसे वैराग्ययुक्त नैष्ठिक ज्ञानी गृहस्थ आश्रम तथा तत्सम्बन्धी कर्मानुष्ठानों का परित्याग कर एवं सब प्रकार की एषणाओं से छुटकारा पाकर ब्रह्मज्ञान की साधना में लगे भिक्षाचर्या से जीवननिर्वाह करलेते हैं। यह सब विवरण संन्यासविधान का स्वरूप स्पष्ट करता है। ऐसे एषणाविहीन संन्यासियों की अन्त्येष्टि में पात्रचयन–कार्य सर्वथा अनुपपन्न होने से अनुष्ठाता के लिए पूर्वकृत कर्मानुष्ठान फल का प्रयोजक नहीं होता। इतिहास, पुराण तथा सभी धर्मशास्त्रों में चार आश्रमों का विधान उपलब्ध होने से केवल एक गृहस्थ आश्रम मानना अनुपपन्न है।

इतिहास-पुराण का प्रामाण्य—इतिहास, पुराण आदि को अप्रमाण कहना उचित न होगा; क्योंकि वैदिक ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रमाण से इतिहास, पुराण आदि का प्रामाण्य स्वीकार कियाजाता है। ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में[1] इतिहास, पुराण आदि के अध्ययन-निर्देश से उनका प्रामाण्य जानाजाता है। इसलिए इतिहास

---

१. द्रष्टव्य, श० ११।५।६।८॥ ११।५।७।९॥ गो० १।१।२१॥ शां० आ० ८॥ ११॥ अन्य अनेक प्रसंग सूचियों के आधार पर सुविधापूर्वक देखेजासकते हैं।

पुराण को अप्रमाण कहना अयुक्त है। धर्मशास्त्र का अप्रामाण्य मानने से तो लोकव्यवहार का उच्छेद होजाने के कारण समस्त समाज उच्छृंखल व आचार-हीन होकर नष्टभ्रष्ट होजाय, क्योंकि सब लोकव्यवहार धर्मशास्त्रों के निर्देशानुसार चलते हैं।

इसके अतिरिक्त इतिहास-पुराण आदि के प्रामाण्य में अन्य कारण है—द्रष्टा-प्रवक्ता आचार्यों का समान होना। जो विद्वान् ऋषि-मुनि वेदमन्त्रों के द्रष्टा हैं, वे ही इतिहास-पुराण-धर्मशास्त्र आदि के रचयिता हैं। विभिन्न शास्त्रों का अपना प्रतिपाद्य विषय नियत होने से उसी विषय में उनका अबाधित प्रामाण्य मानाजाता है। वेद एवं वैदिक वाङ्मय-ब्राह्मण आदि का प्रामाण्य अध्यात्म-विद्याओं तथा यज्ञानुष्ठान आदि में है। इतिहासपुराण का विषय लोकवृत्त को सुस्थिर तथा संस्मृत रखना है। उसी विषय में उसका प्रामाण्य है। लोकव्यवहार को व्यवस्थित रखना धर्मशास्त्र का विषय है; उसीमें वह प्रमाण है। किसी एक शास्त्र द्वारा सबकी व्यवस्था नहीं होती। जैसे प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत विषय का ग्राहक होता है, कोई एक या अनेक सब विषयों को ग्रहण नहीं करसकते, ऐसे ही अपने नियत प्रतिपाद्य विषय के अनुसार विभिन्न शास्त्रों का प्रामाण्य स्वीकार कियाजाता है। इतिहास-पुराण भी अपने विषय में प्रमाण हैं॥ ६२॥

क्लेशानुबन्ध अपवर्ग का बाधक नहीं—अपवर्ग के अभाव का साधक दूसरा हेतु-क्लेशानुबन्ध बतायागया। क्लेशों का अनुक्रम जीवन में निरन्तर बने रहने से अपवर्गप्राप्ति के उपायों का अनुष्ठान करने के लिए व्यक्ति को अवसर नहीं रहता। ऐसी दशा में अपवर्ग का स्वीकार करना निरर्थक है। आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में बताया—

सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गः॥ ६३॥ (४०७)

[सुषुप्तस्य] गहरे सोये हुए व्यक्ति के [स्वप्नादर्शने] स्वप्न न दीखने की दशा में [क्लेशाभावात्] क्लेश के अभाव से [अपवर्गः] अपवर्ग सिद्ध होता है।

गहरी नींद के समय व्यक्ति को किसीप्रकार के क्लेश का अनुभव नहीं होता। यद्यपि यह अज्ञान की दशा मानी जाती है, फिर भी क्लेश के निरन्तर होनेवाले प्रवाह का विच्छेद होजाना अपवर्ग के साथ सुषुप्ति की समानता है। जैसे क्लेश का सिलसिला गहरी नींद के समय विच्छिन्न होजाता है, किसीप्रकार के राग-द्वेष एवं सुख-दुःख आदि की प्रतीति नहीं होती, इसीप्रकार समस्त एषणाओं से दूर हुए ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त के समस्त क्लेशों का अनुक्रम उच्छिन्न होजाता है। शरीरपात के अनन्तर क्लेशों के अभाव में वह ब्रह्मज्ञानी आत्मा ब्रह्म की आनन्दरूपता का अनुभव करता है; यही अपवर्ग का स्वरूप है। फलतः अपवर्ग का अभाव कहना असंगत है॥ ६३॥

प्रवृत्ति अपवर्ग की बाधक नहीं—अपवर्ग के अभाव का साधक तीसरा हेतु–प्रवृत्त्यनुबन्ध बताया है। वाणी, मन तथा देह से कर्मों का कियाजाना 'प्रवृत्ति' है। यह क्रम अनिवार्यरूप से जीवनपर्यन्त चालू रहता है। तब अपवर्ग के उपायों का अनुष्ठान न होसकने से अपवर्ग का मानना व्यर्थ है। आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में बताया—

न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ।। ६४ ।। (४०८)

[न] नहीं [प्रवृत्तिः] प्रवृत्ति-देहादि क्रिया (समर्थ), [प्रतिसन्धानाय] जन्मान्तर से सम्बन्ध के लिए [हीनक्लेशस्य] क्लेशरहित-ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त की।

आत्मज्ञानी होजाने से जिसने सब क्लेशों से छुटकारा पालिया है, ऐसे जीवन्मुक्त व्यक्ति की देहादिक्रियारूप प्रवृत्तियाँ जीवन्मुक्त का अगले जन्म से सम्बन्ध जोड़ने के लिए समर्थ नहीं होतीं। राग-द्वेष-मोह आदि क्लेशों का जब आत्मज्ञान होजाने से क्षय होजाता है, तब पहला जन्म समाप्त होने पर अर्थात् आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त का देहावसान होजाने पर क्रियमाण (उस देहादि से किये-गये) कर्म एवं सञ्चित कर्म अगले जन्म के साथ जीवन्मुक्त का सम्बन्ध जोड़ने में अपना सामर्थ्य खोबैठते हैं। तात्पर्य है–प्रारब्ध कर्मों को छोड़कर शेष सभी प्रकार के कर्मों का क्षय आत्मज्ञान से होजाता है। जीवन्मुक्त दशा में जो कर्म देहादि से कियेजाते हैं, वे तात्कालिक भोग के अतिरिक्त अन्य किसीप्रकार के फल को उत्पन्न करने में सर्वथा क्लीब रहते हैं। कर्म की क्लीबता का परिचय इसी अवसर पर मिलता है। आगे देहादि के साथ आत्मज्ञानी का सम्बन्ध न होने से उसका अपवर्ग होना सिद्ध होता है।

प्रारब्ध कर्मों का फलभोग अनिवार्य—इससे यह न समझना चाहिये कि कर्मों के विफल होजाने का दोष प्राप्त होता है। आत्मज्ञानी का पूर्वजन्म समाप्त होजाने पर अगला जन्म न होने का यह तात्पर्य नहीं है कि वह अपने पूर्वकृत कर्मों का फलोपभोग नहीं करता। वस्तुतः जिस जन्म के अनन्तर आत्मज्ञानी का फिर जन्म नहीं होता, उसी जन्म में वह अपने पूर्वकृत सब कर्मों का फल भोग-लेता है। किसी जन्म में भोग्य-कर्म केवल प्रारब्ध-कर्म होते हैं। कर्मों के अनन्त सञ्चय में से जो कर्म किसी एक शरीर का प्रारम्भ करते हैं, अर्थात् जिस एक जन्म के निमित्त होते हैं, वे 'प्रारब्ध'-कर्म कहेजाते हैं। आत्मज्ञान होजाने पर जबतक उन सब कर्मों का फल भोग नहीं लियाजाता, तबतक उस देहका नाश नहीं होता; वह जीवन चालू रहता है। समस्त प्रारब्ध-कर्मों के फल जब भोग लियेजाते हैं, तभी आत्मज्ञानी का देहपात होकर आगे देहादि-सम्बन्धरूप जन्म नहीं होता।

सञ्चित एवं नवीन क्रियमाण कर्मों से जनित संस्कारों का नाश आत्मज्ञान

कारण अनित्य होना सम्भव है। तब क्लेशों के न रहने से अपवर्ग का होना सिद्ध है ॥ ६६ ॥

इस समाधान से प्रोत्साहित होकर अन्य शिष्य ने एक और समाधान प्रस्तुत किया। आचार्य ने उसको सूत्रित किया—

अणुश्यामतानित्यत्ववद्वा ॥ ६७ ॥ (४११)

[अणुश्यामतानित्यत्ववत्] पृथिवी परमाणु की (अनादि) श्यामता के अनित्य होने के समान (क्लेशसन्तति का अनित्य होना सम्भव होगा), [वा] अथवा।

पूर्वोक्त प्रागभाव के दृष्टान्त में आपाततः यह न्यूनता स्पष्ट है कि वह अभाव है, क्लेशसन्तति अभाव नहीं। अभाव के अनादि होने पर भी उसमें अनित्यता सम्भव है; पर अनादि क्लेशसन्तति भावरूप होने से उसमें अनित्यता की सम्भावना नहीं कीजासकती। अनादि भावपदार्थ आत्मा आदि नित्य होता है। भावरूप क्लेशसन्तति के अनादि होने से नित्य बने रहने के कारण अपवर्ग सिद्ध न होसकेगा। इसलिये प्रस्तुत प्रसंग में ऐसे भावपदार्थ का दृष्टान्त उपयुक्त रहेगा, जो अनादि होता हुआ अनित्य हो। इसी भावना से प्रस्तुत सूत्र में 'अणुश्यामता' दृष्टान्त दियागया। पृथिवी परमाणु की श्यामता भावरूप है, अनादि है; फिर भी अग्निसंयोग से श्यामता के नष्ट होजाने के कारण वह अनित्य है। अनादि भावरूप क्लेशसन्तति भी तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञान के सम्पर्क से नष्ट होजाती है। इसप्रकार क्लेशों के अभाव में अपवर्ग सिद्ध होता है।

आचार्य ने शिष्यों के प्रति वात्सल्य एवं प्रोत्साहन की भावना से उक्त दोनों दृष्टान्तों को मूल जिज्ञासा के समाधान के रूप में प्रदर्शित किया; पर वस्तुतः दोनों दृष्टान्त प्रसंग में अनुपयुक्त हैं। नित्य होना और अनित्य होना यह भाव-पदार्थ का धर्म मानाजाता है। भावपदार्थ में प्रधानरूप से इनका उल्लेख होता है। अभाव में इनका (नित्यत्व–अनित्यत्व का) प्रयोग गौणरूप में होता है। तात्पर्य है–अभाव-पदार्थ को मुख्यरूप से नित्य अथवा अनित्य नहीं कहाजा-सकता। इसलिए प्रागभाव में मुख्य अथवा वास्तविक नित्यत्व न होने पर उसका विनाश सम्भव है। पर क्लेशसन्तति अभाव न होने से अनादि होने के कारण उसका विनाश सम्भव न होगा। तब अपवर्ग असिद्ध होजायगा। अतः क्लेश-सन्तति के विनाश में प्रागभाव के विनाश का दृष्टान्त अनुपयुक्त है।

अणुश्यामता दृष्टान्त भी अनुपयुक्त है। पृथिवी का सबप्रकार का रूप पाकज होने से अनित्य मानाजाता है। इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि पृथिवी परमाणु में श्यामता अनादि अथवा नित्य होती है। अनुत्पादविनाशधर्मक भाव-पदार्थ नित्य होता है। परन्तु पदार्थ अनित्य हो और अनुत्पत्तिधर्मक हो, इसका

कारण अनित्य होना सम्भव है। तब क्लेशों के न रहने से अपवर्ग का होना सिद्ध है ॥ ६६ ॥

इस समाधान से प्रोत्साहित होकर अन्य शिष्य ने एक और समाधान प्रस्तुत किया। आचार्य ने उसको सूत्रित किया—

अणुश्यामतानित्यत्ववद्वा ॥ ६७ ॥ (४११)

[अणुश्यामतानित्यत्ववत्] पृथिवी परमाणु की (अनादि) श्यामता के अनित्य होने के समान (क्लेशसन्तति का अनित्य होना सम्भव होगा), [वा] अथवा।

पूर्वोक्त प्रागभाव के दृष्टान्त में आपाततः यह न्यूनता स्पष्ट है कि वह अभाव है, क्लेशसन्तति अभाव नहीं। अभाव के अनादि होने पर भी उसमें अनित्यता सम्भव है; पर अनादि क्लेशसन्तति भावरूप होने से उसमें अनित्यता की सम्भावना नहीं कीजासकती। अनादि भावपदार्थ आत्मा आदि नित्य होता है। भावरूप क्लेशसन्तति के अनादि होने से नित्य बने रहने के कारण अपवर्ग सिद्ध न होसकेगा। इसलिये प्रस्तुत प्रसंग में ऐसे भावपदार्थ का दृष्टान्त उपयुक्त रहेगा, जो अनादि होता हुआ अनित्य हो। इसी भावना से प्रस्तुत सूत्र में 'अणुश्यामता' दृष्टान्त दियागया। पृथिवी परमाणु की श्यामता भावरूप है, अनादि है; फिर भी अग्निसंयोग से श्यामता के नष्ट होजाने के कारण वह अनित्य है। अनादि भावरूप क्लेशसन्तति भी तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञान के सम्पर्क से नष्ट होजाती है। इसप्रकार क्लेशों के अभाव में अपवर्ग सिद्ध होता है।

आचार्य ने शिष्यों के प्रति वात्सल्य एवं प्रोत्साहन की भावना से उक्त दोनों दृष्टान्तों को मूल जिज्ञासा के समाधान के रूप में प्रदर्शित किया; पर वस्तुतः दोनों दृष्टान्त प्रसंग में अनुपयुक्त हैं। नित्य होना और अनित्य होना यह भाव-पदार्थ का धर्म मानाजाता है। भावपदार्थ में प्रधानरूप से इनका उल्लेख होता है। अभाव में इनका (नित्यत्व–अनित्यत्व का) प्रयोग गौणरूप में होता है। तात्पर्य है–अभाव-पदार्थ को मुख्यरूप से नित्य अथवा अनित्य नहीं कहाजा-सकता। इसलिए प्रागभाव में मुख्य अथवा वास्तविक नित्यत्व न होने पर उसका विनाश सम्भव है। पर क्लेशसन्तति अभाव न होने से अनादि होने के कारण उसका विनाश सम्भव न होगा। तब अपवर्ग असिद्ध होजायगा। अतः क्लेश-सन्तति के विनाश में प्रागभाव के विनाश का दृष्टान्त अनुपयुक्त है।

अणुश्यामता दृष्टान्त भी अनुपयुक्त है। पृथिवी का सबप्रकार का रूप पाकज होने से अनित्य मानाजाता है। इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि पृथिवी परमाणु में श्यामता अनादि अथवा नित्य होती है। अनुत्पादविनाशधर्मक भाव-पदार्थ नित्य होता है। परन्तु पदार्थ अनित्य हो और अनुत्पत्तिधर्मक हो, इसका

साधक हेतु कोई उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में अणुश्यामता को अनुत्पत्ति-धर्मक मानकर अनित्य कहना नितान्त असंगत है। वस्तुत: पृथिवी का रूप पाकज होने से अनित्य है, चाहे वह श्याम हो अथवा रक्त अथवा अन्य कुछ। इसलिए पार्थिव परमाणु का श्याम एवं कोई अन्य रूप अनादि नहीं कहाजासकता। अत: क्लेशसन्तति के विनाश में उसका दृष्टान्त असंगत है॥ ६७॥

क्लेशसन्तति का उच्छेद—आचार्य ने उक्त मूलजिज्ञासा का बास्तविक समाधान प्रस्तुत किया—

न संकल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम्॥ ६८॥ (४१२)

[न] नहीं (कोई बाधा, रागादि क्लेशों की निवृत्ति में) [संकल्पनिमित्त-त्वात्] संकल्पनिमित्त होने से [च] तथा—इतरेतरनिमित्तक होने से [रागादी-नाम्] राग आदि क्लेशों के।

जिज्ञासा प्रकट कीगई—राग आदि क्लेशों के अनादि होने से उनकी निवृत्ति सम्भव न होगी; तब क्लेशों के निरन्तर बने रहने से अपवर्ग का अभाव प्राप्त होगा।

आचार्य ने बताया—क्लेशों के निवृत्त होने में कोई बाधा नहीं है। क्लेश संकल्प से अर्थात् संकल्पपूर्वक कियेगये कर्मों से उत्पन्न होते हैं। सूत्रपठित 'च' पद से आचार्य ने क्लेशों का एक अन्य कारण बताया—राग, द्वेष, मोह आदि क्लेशों से एक-दूसरे का उत्पन्न होना। तत्त्वज्ञान से वह कर्मविषयक मिथ्या संकल्प निवृत्त होजाता है, नष्ट होजाता है। मिथ्या संकल्प के नष्ट होने पर रागादि क्लेशों का—कारण के न रहने से—स्वत: नाश होकर अपवर्ग अनायास सिद्ध होजाता है।

इसप्रकार मिथ्यासंकल्पमूलक कर्मों से तथा परस्पर एक-दूसरे के कारण राग, द्वेष, मोह आदि से क्लेश उत्पन्न हुआ करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति मिथ्या संकल्प से प्रेरित होकर सुखमूलक, दु:खमूलक एवं अज्ञानमूलक कर्मों के करने में प्रवृत्त होता है; उससे राग, द्वेष, मोह आदि क्लेश जन्म लेते रहते हैं। अनुष्ठित कर्म प्राणी के आगामी देहप्राप्ति में निमित्त रहते हैं; उन्हींके अनुसार नियम-पूर्वक रागादि क्लेशों को उत्पन्न कराने में प्रयोजक होते हैं। लोक में ऐसा नियम देखाजाता है—कोई शरीर राग-बहुल होता है, कोई द्वेषबहुल एवं कोई मोहबहुल। जैसे कबूतर आदि पक्षी तथा गाय, हरिण आदि पशुओं में नियम से राग का बाहुल्य देखाजाता है। सर्प तथा अन्य हिंसाशील पशु-पक्षियों एवं सरीसृपों में नियम से द्वेष का बाहुल्य रहता है। आलस्य एवं निद्रा आदि से अतिशयित अभिभूत जातियों में मोह का बाहुल्य समझना चाहिये। जैसे—अजगर, स्लोथ आदि। इसप्रकार प्राणीमात्र में रागादि क्लेश अपने कर्मों के कारण बराबर उत्पन्न होते रहते हैं।

राग आदि यथावसर एक-दूसरे को उत्पन्न किया करते हैं। जब मोह के प्रभाव से व्यक्ति कहीं अनुरक्त होजाता है, तब वहाँ राग की उत्पत्ति में मोह कारण है। जब मोह से अभिभूत व्यक्ति राग की उत्पत्ति में किसी बाधा को देखता है, तो उसके विषय में द्वेष उत्पन्न होजाता है। यहाँ मोह द्वेष की उत्पत्ति में कारण है। जब व्यक्ति कहीं अनुरक्त होकर मोह में फँसजाता है; वहाँ मोह का कारण राग है, अर्थात् राग से मोह की उत्पत्ति है। किसी विषय में उग्र द्वेष होने से, उसके विरोधी विषय में व्यक्ति का मोह एवं अनुराग उत्पन्न हो-जाता है। यहाँ मोह तथा राग का कारण द्वेष है। इसप्रकार राग, द्वेष, मोह यथावसर एक-दूसरे को उत्पन्न कियाकरते हैं।

मिथ्यासंकल्प अथवा परस्पर एक-दूसरे से उत्पन्न होनेवाले राग, द्वेष, मोह आदि सभी क्लेशों का उच्छेद तत्त्वज्ञान से होजाता है। तत्त्वज्ञान, क्लेशों के निमित्त मिथ्यासंकल्प को जड़ से उखाड़ फेंकता है। जब क्लेशों का कारण मिथ्यासंकल्प न रहा, तब कारण के अभाव में क्लेश-कार्य उत्पन्न नहीं होपाता। इसप्रकार रागादि क्लेशों का अत्यन्त उच्छेद होजाता है।

रागादि क्लेशों का सिलसिला अनादि है; यह कहना भी युक्त नहीं है। समस्त राग-द्वेष आदि आध्यात्मिक भावों तथा देह आदि प्राप्ति का अनुक्रम आत्मा के साथ अनादि-प्रवाह से चला आरहा है। यह वस्तुतः निरन्तर बहने-वाली जलधारा के समान एक अटूट प्रवाह समझाजाना चाहिये। इस प्रवाह में ऐसा नहीं है कि राग आदि क्लेश अथवा शरीर आदि अभूतपूर्व उत्पन्न होते हों; अर्थात् जो पहले कभी उत्पन्न न हुए हों, और यह उनकी उत्पत्ति का प्रथम अवसर हो। स्वरूप और विषय [क्षेत्र] की दृष्टि से वे ही राग आदि चक्रभ्रमि के समान अनवरत सामने आया करते हैं। केवल तत्त्वज्ञान ऐसा है, जिसकी उत्पत्ति किसी जीवन में अभूतपूर्व होती है। तात्पर्य है, उसका उत्पाद किसी ज्ञातकाल में पहले नहीं हुआ होता।

राग आदि क्लेश अथवा शरीर आदि के ऐसे अनवरत प्रवाह के कथन से किसी अनुत्पत्तिधर्मक पदार्थ को विनाशशील स्वीकार कियागया हो, ऐसा नहीं है। क्लेश तथा शरीर आदि सब उत्पाद-विनाशशील पदार्थ हैं, भले ही उनका प्रवाह अनादि है। तत्त्वज्ञान से मिथ्यासंकल्प-मिथ्याज्ञान का विनाश होजाता है; राग आदि क्लेशों की उत्पत्ति का कारण जब मिथ्यासंकल्प नहीं रहता, तब राग आदि का उत्पन्न होना असम्भव होजाता है। तत्त्वज्ञान होजाने पर भी चालू जीवन के प्रारब्ध-कर्मों का सुख-दुःखरूप फल ज्ञानी को अवश्य भोगना होता है। देहपात के अनन्तर किसी प्रकार के दुःख का न रहना—अपवर्ग का

स्वरूप है। फलतः अपवर्ग के अस्तित्व में किसी बाधा की कल्पना निराधार है ॥ ६८ ॥

इति गौतमीयन्यायशास्त्रस्योदयवीरशास्त्रिविरचिते विद्योदयभाष्ये
तुरीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ॥

आकाशगुणखनेत्रमिते वैक्रमवत्सरे ।
श्रावणाऽसितपक्षस्य द्वितीयस्यां तिथौ तथा ॥
ग्रन्थांशोऽयं पूर्त्तिमगात्सुपूते कुजवासरे ।
सोऽयं मनांसि विदुषां रञ्जयत्वनिशं चिरम् ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

तत्त्वज्ञान किसका—गत प्रकरण में कहागया–तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होकर अपवर्ग की सिद्धि होती है। यहाँ स्वभावतः जिज्ञासा उभर आती है–तत्त्वज्ञान क्या समस्त विषयों का होना चाहिये? अथवा कतिपय नियत विषयों का?

विषयों के अनन्त होने से सबका तत्त्वज्ञान सम्भव नहीं। कतिपय नियत विषयों का तत्त्वज्ञान मानने पर, अन्य अनेक विषयों में मिथ्याज्ञान बना रहेगा। एक विषय के तत्त्वज्ञान से अन्य विषय के मिथ्याज्ञान की निवृत्ति नहीं हो-सकती। मोह अथवा मिथ्याज्ञान अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है; तत्त्वज्ञान का अभावमात्र मिथ्याज्ञान नहीं है, जिससे जिस-किसी विषय का तत्त्वज्ञान हो-जाने पर मिथ्याज्ञानमात्र का उच्छेद होजाय। इसलिये यह समझना आवश्यक है कि किन पदार्थों का तत्त्वज्ञान होना अपेक्षित है, जो मिथ्याज्ञान के उच्छेद में समर्थ हो।

मिथ्याज्ञान के आधार—स्पष्ट है, जिन विषयों में मिथ्याज्ञान का होना संसार का कारण है, अर्थात् जिन विषयों के मिथ्याज्ञान से आत्मा संसार-बन्धन में फँसा रहता है, उन विषयों का तात्त्विक रूप से जानना अपेक्षित है। वह विषय और तद्विषयक मिथ्याज्ञान का स्वरूप क्या है? ज्ञातव्य है। वे विषय हैं–शरीर-इन्द्रिय आदि प्रमेय; तथा उन विषयों में मिथ्याज्ञान का स्वरूप है–उन अनात्म तत्त्वों को आत्मा समझ बैठना। शरीर आदि आत्म-भिन्न पदार्थों में 'यही मैं आत्मा हूँ' ऐसा अहंभाव होना मोह-अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान है। जिन

अनात्म विषयों में आत्मा होने का अहंभाव उभरता है, वे हैं–शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना, बुद्धि आदि। शरीर के मोटे-पतले, बली-दुर्बल होने को आत्मा का मोटा-पतला होना आदि मानना। इन्द्रियों के विकार काणा, बहरा आदि को–'मैं काणा, बहरा हूँ' इसप्रकार आत्मा का स्वरूप समझना। मानसिक कष्ट व विकार (उन्माद) आदि को आत्मा का विकार जानना। 'वेदना'-पद पुत्र, कलत्र, पशु, परिच्छद आदि के संयोग-वियोग से होनेवाले सुख-दुःख का बोधक है; उनको आत्मा समझना, यह सब घोर मिथ्याज्ञान है। बुद्धि को आत्मा समझना, जो आत्मा की बाह्य अनुभूतियों के लिये एक साधनमात्र है–मिथ्याज्ञान है।

मिथ्याज्ञान संसारहेतु कैसे––जिज्ञासा होती है शरीरादिविषयक आत्माभिमान संसार का कारण कैसे होता है? यह स्पष्ट होना चाहिये। जब आत्मा शरीर–इन्द्रिय आदि समुदाय को 'यही मैं हूँ' इसप्रकार आत्मा का स्वरूप समझता है, और इसी भावना में आस्था रखता है, तब शरीर आदि के उच्छेद को आत्मा का उच्छेद मानता हुआ उसके अनुच्छेद के लिये इच्छुक, उत्सुक, सतृष्ण बना रहता है। विनाशशील शरीर आदि के अनुच्छेद की तीव्र तृष्णा में डूबा हुआ यह व्यक्ति बार-बार शरीर आदि को धारण करता रहता है। इसका अभिप्राय है–जन्म-मरण के निरन्तर आवर्त्तमान चक्र में फँसा रहता है। उससे छुटकारा न मिलने के कारण वह दुःख से अत्यन्त विमुक्त नहीं होपाता। फलतः शरीर आदि अनात्म तत्त्वों को आत्मा जानना मिथ्याज्ञान है, और यह संसार का कारण है; इसलिए इन्हींके विषय का तत्त्वज्ञान उक्त मिथ्याज्ञान का उच्छेद कर अपवर्ग का साधन होता है।

जीवन में यह स्थिति लाने के लिए आवश्यक है–व्यक्ति दुःख, दुःख के घर शरीर आदि तथा दुःखों में सने हुए सुख को भी दुःख समझे, ऐसा समझकर उससे दूर रहने के उपायों का अनुष्ठान करे। इससे दुःखों का वेग क्षीण होता चलाजाता है। संसार में यद्यपि वैषयिक सुख का बड़ा आकर्षण रहता है; परन्तु अति मधुर, पर विषमिश्रित अन्न जैसे त्याज्य है, ऐसे ही दुःखों के कीचड़ में सने हुए वैषयिक सुखों को त्याज्य समझकर उनके क्षय के लिए उपाय करना अपेक्षित होता है। इसप्रकार अध्यात्म-मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति, प्रवृत्ति के हेतु दोषों [राग, द्वेष, मोह आदि] को दुःख का कारण जानलेता है। जब तक दोष क्षीण नहीं होजाते, दुःख का सिलसिला टूट नहीं सकता; ऐसा समझकर वह दोषों को छोड़ने का प्रयास करता है। राग आदि दोषों के न रहने पर विषयों में प्रवृत्ति का होना रुकजाता है, तथा जन्मान्तर के साथ जोड़ेजाने का आधार न रहजाने से व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र को लाँघ जाने की स्थिति में पहुँचजाता है [४ । १ । ६४]। तब अध्यात्ममार्ग का यात्री–पुनर्जन्म, कर्मफल

तथा संसार दुःखों का सागर है–इनकी वास्तविकताओं को निश्चितरूप से समझ-लेता है। इसके साथ त्याज्य प्रवृत्ति और दोषों को भी जानलेता है।

इसप्रकार आत्मा के लिए अपवर्ग एक प्राप्तव्य अवस्था है, मानव-जीवन का यह सर्वोच्च लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति का उपाय केवल तत्त्वज्ञान है, जिसका विवरण गत पंक्तियों में दियागया है। यह सब मिलाकर समस्त ज्ञातव्य विषय चार विधाओं में सीमित होजाता है–१. हेय-त्याज्य, संसार है। २. हेयहेतु, प्रवृत्ति और दोष हैं। ३. प्राप्य-उपादेय, अपवर्ग है। ४. प्राप्य का हेतु, तत्त्व-ज्ञान है। इन चार को–'हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय' रूप में कहाजाता है। 'हान' का तात्पर्य है–दुःख का अत्यन्त विनाश। उसका उपाय-साधन तत्त्वज्ञान है। इसप्रकार जो व्यक्ति प्रमेयमात्र का विभाग कर इसी भावना से निरन्तर अभ्यास-आचरण करता हुआ तत्त्वज्ञान के उपायों का अनुष्ठान करता है, उसे यथावसर तत्त्वज्ञान होजाता है। सूत्रकार ने बताया, इसप्रकार—

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ॥ १ ॥ (४१३)

[दोषनिमित्तानाम्] दोष कारणवाले शरीर आदि के [तत्त्वज्ञानात्] तत्त्वज्ञान से [अहङ्कारनिवृत्तिः] अहङ्कार (शरीर आदि में आत्माभिमान) की निवृत्ति होजाती है।

अहङ्कारनिवृत्ति कैसे—राग, द्वेष आदि दोष शरीर आदि की प्राप्ति के निमित्त हैं। मानवशरीर में आकर व्यक्ति रागादि से प्रेरित होकर कर्म करता है, वे कर्म आगे अन्य रागादि को उत्पन्न करते हैं, जो चालू देह के पतन के अनन्तर देहान्तर की प्राप्ति में निमित्त होते हैं। इसप्रकार पूर्वरागादि से यह देह, इस देह के द्वारा कर्मपूर्वक अन्य राग आदि का उत्पाद, पुनः सञ्चित व क्रियमाण कर्मों से अन्य देह की प्राप्ति, यह क्रम अनादिकाल से चल रहा है। इसका कारण है–शरीरादिविषयक मिथ्याज्ञान। शरीर आदि दुःखपर्यन्त अनात्म-तत्त्वों को आत्मा समझना। यह मिथ्याज्ञान शरीरादिविषयक तत्त्वज्ञान से निवृत्त होता है, क्योंकि एक विषय का मिथ्याज्ञान और तत्त्वज्ञान परस्पर-विरोधी होने से एक काल में नहीं रहसकते। जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता, मिथ्याज्ञान बना रहता है। व्यक्ति तब शरीरादि अनात्मतत्त्वों को आत्मा समझता हुआ सब व्यवहार करता है। जब शरीरादि अनात्मा को अनात्मा–और शरीरभिन्न चेतन आत्मा को आत्मा–होने का साक्षात्कार होजाता है, तब यह तत्त्वज्ञान शरीरादिविषयक मिथ्याज्ञान का उच्छेद करदेता है। मिथ्याज्ञान के न रहने पर–कारणनाश से कार्यनाश की व्यवस्था के अनुसार यथाक्रम–दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःखों का उच्छेद होजाने से आत्मा को अपवर्ग की अवस्था प्राप्त होजाती है। यह सब प्रथम [१। १। २ तथा ९-२२ में] कहाजाचुका

है, उसीका यहाँ पुनः कथनमात्र है, नया विधान कुछ नहीं। इससे यह स्पष्ट होजाता है–तत्त्वज्ञान उन्हीं विषयों का होना अपेक्षित है, जिनका मिथ्याज्ञान संसार का निमित्त है ॥ १ ॥

दोषों के कारण रूपादि—तत्त्वज्ञान के लिए प्रवृत्त होने पर किस पदार्थ का ज्ञान प्रथम और किसका अनन्तर होनाचाहिये, इस ज्ञानक्रम को बतलाने के लिए सूत्रकार ने कहा—

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः ॥ २ ॥ (४१४)

[दोषनिमित्तम्] रागादि दोषों को उत्पन्न करनेवाले होते हैं–[रूपादयः] रूप, रस आदि [विषयाः]विषय [सङ्कल्पकृताः] संकल्प से उद्‌भूत हुए–उभरे हुए।

रूपादि विषय दोषों के कारण—रूप, रस, गन्ध आदि चक्षु आदि इन्द्रियों के ग्राह्य अर्थ हैं। इनमें संकल्प अर्थात् मानसिक विकार से व्यक्ति की कामना उत्पन्न होजाती है, इनको प्राप्त करने व भोगने की चाहना। रूपादि के प्रति यह कामना व्यक्ति में राग आदि को उत्पन्न करदेती है। इसलिए सबसे प्रथम रूप, रस आदि विषयों को तात्त्विकरूप से जानने का प्रयत्न करना चाहिये। रूपादि को इसप्रकार जानने के लिए प्रयत्न करते हुए व्यक्ति का रूपादिविषयक मिथ्यासंकल्प, अर्थात् मिथ्याज्ञान निवृत्त होजाता है। उसके निवृत्त होजाने पर शरीर, इन्द्रिय आदि की वास्तविकता को जानने का प्रयास करे। इनकी रचना, इनके उपादान कारण तथा तात्त्विक स्वरूप क्या हैं? यह जानने का प्रयत्न करे। इसके जानलेने पर व्यक्ति को निश्चय होजाता है–शरीर-इन्द्रिय आदि सब जड़ तत्त्व हैं, आत्मा चेतन ज्ञानवान् है; शरीरादि जड़तत्त्व आत्मा नहीं होसकते। ऐसी स्थिति में शरीरादिविषयक मिथ्याज्ञान–'यही मैं आत्मा हूँ'–निवृत्त होजाता है। इसप्रकार जब बाह्य और आन्तर विषयों में मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होजाती है, तब संयतचित्त आत्मा जीवन्मुक्त होजाता है। उसकी चित्तवृत्तियाँ बाह्य तथा आन्तर विषयों में दौड़-धूप नहीं करतीं। वह शान्तचित्त हो आत्मानन्द का अनुभव करता है ॥ २ ॥

हेय-भावनीय भाव—इस स्थिति को प्राप्त होकर आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए यह अपेक्षित होता है कि वह किन्हीं विषयों का परित्याग करे, तथा किन्हीं का निरन्तर चिन्तन किया करे। इससे किन्हीं अर्थों का निराकरण अथवा किन्हीं अर्थों का उपपादन करना आचार्य को अभिप्रेत नहीं है। वह केवल अर्थों के चिन्तन-अचिन्तन की बात कहना चाहता है। इस विषय में कौन और कैसे हेय, तथा भावनीय है–चिन्तन करने–साधना करने के योग्य है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तन्निमित्तं त्ववयव्यभिमानः ॥ ३ ॥ (४१५)

[तन्निमित्तम्] उन रागादि दोषों का निमित्त [तु] तो (होता है) [अवयव्यभिमानः] अवयवी में अभिमान (अपनी भोग्य वस्तु में अपने अभिमत होने का ज्ञान)।

सूत्र में 'अवयवी' पद का तात्पर्य–भोग्य देह–से है। वह पुरुष के लिए स्त्री का और स्त्री के लिए पुरुष का होता है। पुरुष के लिए स्त्री का देह रागादि की उत्पत्ति का हेतु होता है, और स्त्री के लिए इसीप्रकार पुरुष का देह। प्रत्येक व्यक्ति भिन्नलिङ्गी देह के विषय में उसके विशिष्ट अङ्गों को लक्ष्यकर अपना एक अभिमत, विचार व संकल्प बनाता है। यह विचार अङ्गों की दो बातों को लक्ष्य करता है–एक-अङ्गों की स्थिति, दूसरी–उनकी बनावट। स्थिति में केवल इतना विचार आता है कि आँख-नाक, दाँत-ओष्ठ, श्रोत्र, रसना, हाथ-पाँव, बाँह आदि का स्मरण रागादि को उत्पन्न करदेता है। दूसरे–बनावट में ऐसा विचार आता है–उसकी आँखें ऐसी हैं, उसके दाँत, ओष्ठ, नाक, कान आदि ऐसे हैं। ये विचार उनमें अपनी अभिमत भावना को अभिव्यक्त करते हैं। इनमें पहले विचार या संकल्प को आचार्यों ने 'निमित्तसंज्ञा' नाम दिया है; दूसरे को 'अनुव्यञ्जनसंज्ञा' अथवा 'अनुरञ्जनसंज्ञा'। पहले नाम का आधार है–रागादि की उत्पत्ति का निमित्त होना। दूसरे का आधार है–अङ्गों के अभिमत सौन्दर्य को अभिव्यक्त करना। ये विचार व्यक्ति की कामवासना को उभारते व बढ़ाते हैं, तथा उससे सम्बद्ध अन्य सभी प्रकार के दोषों को उत्पन्न करते हैं, जिनको वर्जनीय, अर्थात् हेयपक्ष में मानागया है। अध्यात्ममार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति को इन विचारों का सर्वात्मना परित्याग करना चाहिये।

इससे विपरीत, देह आदि के विषय में जो भावनीय विचार हैं, उनके अनुसार देह व देहाङ्गों को भिन्नरूप में अभिव्यक्त कियाजाता है। कारणों के आधार पर एक-एक अङ्ग का विश्लेषण करने से देह का शीराज़ा बिखर-सा जाता है। इसमें केश, लोम, मांस, रक्त, हड्डी, नस, नाड़ी, कफ, पित्त, मल, मूत्र आदि के अतिरिक्त और देह है ही क्या? ऐसी क्या ये वस्तु हैं, जिसके लिए व्यक्ति अपना जीवन नष्ट करदेता है? आचार्यों ने इसप्रकार की विचार-स्थिति का नाम 'अशुभसंज्ञा' रक्खा है। इसमें व्यक्ति की देहादिविषयक अशुभ भावना जागृत होती है, जिससे व्यक्ति केवल देहादि रचना की ओर आकृष्ट नहीं होता। उसका कामनामूलक अनुराग इस प्रवृत्ति से क्षीण होने लगता है, तथा अध्यात्ममार्ग पर निर्बाध सफलता की सम्भावना बढ़जाती है।

विषयों के अपने रूप में अथवा अपनी स्थिति में यथायथ बने रहने पर 'हेय' और 'ध्येय' इन दोनों प्रकारों का उपदेश आचार्यों ने किया है; जिससे व्यक्ति विषयों में भावनीय एवं परिवर्जनीय स्वरूप को समझकर अपने लक्ष्य

का निर्धारण कर सके। जैसे विषसंमिश्रित अन्न में 'अन्न-संज्ञा' उसका ग्रहण करने के लिए, तथा 'विष-संज्ञा' परित्याग के लिए होती है; ऐसे ही समष्टिरूप में शरीर के सौन्दर्य की भावना कामोत्पत्ति के लिए, तथा मांस, मज्जा, रक्त आदि की भावना परित्याग के लिए होती है। इसमें देह के अवयव मांस, मज्जा आदि को 'अशुभ' मानेजाने के कारण इसे 'अशुभसंज्ञा' तथा पहली भावना में उसे 'शुभ' समझेजाने के कारण 'शुभसंज्ञा' नाम दियेगये हैं। इस प्रसंग से यह स्पष्ट करदियागया है, कि मिथ्याज्ञान की निवृत्ति के लिए किन विषयों का तत्त्वज्ञान अपेक्षित होता है। उसके लिए व्यक्ति को प्रयास करना चाहिये ॥ ३ ॥

अवयवी संशयित—गत सूत्र के द्वारा देह आदि अवयवी में आत्माभिमान से रागादि की उत्पत्ति का होना बताया। इस प्रसंग से शिष्य अवयवी के विषय में संशय प्रस्तुत करता है। आचार्य ने शिष्य-भावना को सूत्रित किया—

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात् संशयः ॥ ४ ॥ (४१६)

[विद्याऽविद्याद्वैविध्यात्] विद्या-उपलब्धि तथा अविद्या-अनुपलब्धि के दोनों प्रकार होने से [संशयः] संशय है (अवयवी के विषय में)।

अनात्मतत्त्व देह आदि अवयवी में आत्मविषयक मिथ्याज्ञान से राग आदि दोषों की उत्पत्ति मानने का उस समय कोई आधार नहीं रहता; जब अवयवी का अस्तित्व सिद्ध न हो। यद्यपि दूसरे अध्याय [२। १। ३२-३६] में अवयवी को सिद्ध कियागया है; और वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण की परीक्षा करते हुए कहागया है, कि द्रव्य का प्रत्यक्ष अवयवी के रूप में होना सम्भव है, अतः द्रव्य का प्रत्यक्ष होना अवयवी के सद्भाव में निमित्त है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में वस्तु का प्रत्यक्ष होजाने पर संशय का आधार उसके आगे है। इसलिए पूर्व प्रसंगानुसार सिद्ध अवयवी के विषय में संशय का एक नया आधार यहाँ सामने आता है।

संशयलक्षणसूत्र [१। १। २३] में प्रथम उपलब्धि और अनुपलब्धि की अव्यवस्था को संशय का कारण बताया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में संशय का उद्भावन शिष्य उसी आधार पर करता है। कहागया—द्रव्य की उपलब्धि केवल अवयवी के रूप में सम्भव है। परन्तु ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है, कि उपलब्धि सदा केवल विद्यमान वस्तु की हो। अविद्यमान वस्तु की भी उपलब्धि होती है। रज्जु में अविद्यमान सर्प तथा मरु-मरीचिकाओं में अविद्यमान जल की उपलब्धि-प्रतीति होती है। इसीप्रकार सम्भव है—अवयवी अविद्यमान रहता हुआ उपलब्ध होता हो।

यदि अवयवी को अनुपलब्ध मानाजाता है, संशय की दशा तब भी बनी-रहती है। क्योंकि वस्तु की अनुपलब्धि के विषय में यह व्यवस्था नहीं है, कि वह केवल अविद्यमान वस्तु की हो। कभी विद्यमान वस्तु भी उपलब्ध नहीं होती।

वृक्ष का मूल भूमि में विद्यमान होने पर उपलब्ध नहीं होता। भूमि में गाड़े हुए खूँटे तथा दीवार में गाड़ीगई कील का अन्तर्हित भाग विद्यमान होता हुआ भी उपलब्ध नहीं होता। कुए में गहराई का पानी होते हुए भी नहीं दीखता। इस दशा में अवयवी यदि उपलब्ध होता है, अथवा नहीं होता, दोनों प्रकार संशय से उसका छुटकारा नहीं है। संदिग्ध अस्तित्व के आधार पर रागादि-उत्पत्ति के हेतु का उपपादन करना अधिक संगत नहीं कहाजासकता॥ ४॥

अवयवी की सत्ता असंदिग्ध—आचार्य ने उक्त संशय का निराकरण किया—

तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात्॥ ५॥ (४१७)

[तद्-असंशयः] उस अवयवी में संशय नहीं है [पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात्] पूर्वोक्त हेतुओं से अच्छीतरह सिद्ध होने के कारण।

अवयवी के अस्तित्व में संशय प्रस्तुत करना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण की परीक्षा के अवसर पर [२। १। ३२-३६] अवयवी की सिद्धि के लिए जो हेतु प्रस्तुत कियेगये हैं, उनका प्रतिषेध न होने से वे अपने साध्य को सिद्ध करने में पूर्ण समर्थ हैं। इसलिए मानना चाहिये-कारण-द्रव्य अपने विशिष्ट संयोग आदि द्वारा एक नवीन द्रव्य को उत्पन्न करते हैं, जो 'अवयवी' कहाजाता है। देह आदि द्रव्य ऐसे ही अवयवी हैं॥ ६॥

अवयवि-विवेचन—पूर्वोक्त हेतुओं को जैसे-तैसे स्मरण करता हुआ शिष्य उनकी उपेक्षा से प्रकट करना चाहता है–'अवयवी के अस्तित्व में संशय नहीं है' ऐसा न कहकर यह कहना चाहिये 'अवयवी के अभाव में संशय नहीं है'। तात्पर्य है–संशय का न होना अवयवी के अस्तित्व में न कहकर अवयवी के अभाव में कहना चाहिये। अवयवी जब है ही नहीं, तो उसमें संशय कैसा? शिष्य की इस भावना को आचार्य ने अग्रिम पाँच सूत्रों द्वारा विवृत किया है। पहला सूत्र है—

वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः॥ ६॥ (४१८)

[वृत्त्यनुपपत्तेः] वृत्ति-स्थिति की अनुपपत्ति से (अवयवों में अवयवी की तथा अवयवी में अवयवों की स्थिति उपपन्न-सिद्ध न होने से) [अपि] भी [तर्हि] तो [न] नहीं [संशयः] संशय।

न अवयवी में अवयव रहसकते, और न अवयवों में अवयवी। वृत्ति की व्यवस्था किसीप्रकार न होने से यही कहाजासकता है कि अवयवी है ही नहीं। तब उसके विषय में संशय निराधार है। फलतः अवयवी के अभाव में असंशय समझना चाहिये, भाव में नहीं॥ ६॥

वृत्ति की अनुपपत्ति को स्पष्ट करते हुए प्रथम अवयवी में अवयव किस-प्रकार नहीं रहसकते, यह बताया—

कृत्स्नैकदेशाऽवृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ॥ ७ ॥ (४१९)

[कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वात्] कृत्स्न–सम्पूर्ण अवयवी में अथवा अवयवी के एकदेश में वृत्ति न होने से [अवयवानाम्] अवयवों की [अवयव्यभावः] अवयवी का अभाव समझना चाहिये।

जिन अवयवों से अवयवी का उत्पन्न होना कहाजाता है, क्या वह एक-एक अवयव सम्पूर्ण अवयवी में रहता है? ऐसा होना सम्भव नहीं, क्योंकि अवयव और अवयवी के परिमाण में भेद मानाजाता है। तब प्रत्येक अवयव सम्पूर्ण अवयवी में नहीं रहसकता। यदि कहाजाय, अवयवी के एकदेश में रहता है, तो यह भी सम्भव नहीं। क्योंकि कारण-अवयवों के अतिरिक्त अन्य कोई अवयवी के एकदेश अवयविवादी नहीं मानता। जब तथाकथित अवयवी में एकदेश की कल्पना नहीं, तब उसमें (एकदेश में) अवयव की वृत्ति कहना असंगत होगा। इसप्रकार प्रत्येक अवयव न सम्पूर्ण अवयवी में, न उसके एकदेश में रहसकता, अतः अवयवी का मानना व्यर्थ है ॥ ७ ॥

यदि अवयवों में अवयवी की वृत्ति मानीजाय तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि—

तेषु चाऽवृत्तेरवयव्यभावः ॥ ८ ॥ (४२०)

[तेषु] उन अवयवों में [च] तथा (अथवा–भी) [अवृत्तेः] न रहने से (अवयवी के) [अवयव्यभावः] अवयवी का अभाव समझना चाहिये।

अवयविवादी के अनुसार अवयव और अवयवी के परिमाण में भेद होने से प्रत्येक अवयव में अवयवी का रहना सम्भव नहीं। यदि ऐसा मानलियाजाता है, तो तथाकथित एक घट अवयवी के स्थान पर उतने अवयवी मानेजायेंगे, जितने अवयवों का समुदाय घट है, जो अवयविवादी के लिए अमान्य है। इसके अतिरिक्त यदि प्रत्येक अवयव में एक अवयवी विद्यमान है, तो अवयव-अवयवी में अन्तर क्या रहगया? इससे तो यही ज्ञात होता है कि अवयव को 'अवयवी' नाम देदियागया। अवयव से अतिरिक्त अवयवी का मानना निष्प्रयोजन है। ऐसा मानने में यह एक अन्य दोष है–प्रत्येक अवयव में एक अवयवी की वृत्ति मानने से अवयव के समान अवयवी को भी निरवयव मानना होगा। परन्तु अवयवि-वाद में अवयव को निरवयव तथा अवयवी को सावयव मानाजाता है।

यदि अवयवसमुदाय के किसी एकदेश में अवयवी के रहने की कल्पना की-जाती है, तो किन्हीं निर्धारित अवयवों में अपने किन्हीं अंशों के साथ ही अवयवी रहसकेगा। क्योंकि अवयवसमुदाय के जिन अवयवों में वह अवयवी नहीं है, उसके लिए अवयवी के अन्य अवयवों की कल्पना करनी होगी, जो अवयविवाद

में स्वीकार्य नहीं है। फलतः अवयवी में अवयवों के रहने तथा अवयवों में अवयवी के रहने की सम्भावना किसीप्रकार बनती नहीं; इसलिए अवयवी का स्वीकार करना निरर्थक है ॥ ८ ॥

अवयवों से पृथक् भी अवयवी का रहना सम्भव नहीं, यह बताया—

पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ॥ ९ ॥ (४२१)

[पृथक्] अलग [च] भी [अवयवेभ्यः] अवयवों से [अवृत्तेः] न रहने के कारण (अवयवी के)।

अवयवों को अवयवी का कारण बतायाजाता है। कोई कार्य अपने कारणों को छोड़कर अन्य अधिकरण में नहीं रहता। तब अवयवी भी अपने कारण-अवयवों को छोड़कर उनसे पृथक् अन्य अधिकरण में रहे, ऐसा सम्भव नहीं ॥ ९ ॥

अवयवी को अवयवरूप भी नहीं कहाजासकता, यह बताया—

न चावयव्यवयवाः ॥ १० ॥ (४२२)

[न] नहीं है [च] और [अवयवी] अवयवी [अवयवाः] अवयवरूप।

समस्त अवयव ही अवयवी है, ऐसा नहीं कहाजासकता। क्योंकि तब अवयवों के अस्तित्व में अवयवी का मानना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त अवयवी के अवयवरूप होने से अवयवी को अवयवों के समान निरवयव मानना होगा, जैसा प्रथम कहाजाचुका है, जो अवयविवाद में अमान्य है। अवयवों को अवयवी मानने पर दोनों में अभेद स्वीकार करना होगा, जो उक्त वाद में मान्य नहीं। ऐसी स्थिति में अवयव-अवयवी का अभिमत आधाराधेयभाव सम्भव न रहेगा, जो दो के भेद में होसकता है। इसप्रकार भी अवयवी सिद्ध नहीं होता।

अवयवी की अवयवरूपता का तात्पर्य यदि यह है कि अवयवी के तथा-कथित कारणभूत समस्त अवयवों में अवयवी विद्यमान रहता है। इसप्रकार अवयवी की वृत्ति समस्त अवयवों में मानीजासकती है। अवयवि-निराकरणवादी का कहना है कि यह प्रकार भी अवयवी का साधक नहीं है। क्योंकि जिस अवयवसमुदाय को अवयवी का कारण कहाजाता है, वह अपने रूप में स्वतः विद्यमान है; उसमें अतिरिक्त अवयवी की कल्पना के लिए कोई कारण दिखाई नहीं देता। अवयवी की कल्पना जिस प्रयोजन के लिए हो, वह सब अवयव-समुदाय से सम्पन्न होसकता है ॥ १० ॥

अवयवि-सद्भाव आवश्यक—आचार्य ने शिष्य की भावना का उदारता-पूर्वक विवरण प्रस्तुत कर उसका उपयुक्त समाधान किया—

एकस्मिन् भेदाभावाद् भेदशब्दप्रयोगानुप-पत्तेरप्रश्नः ॥ ११ ॥ (४२३)

[एकस्मिन्] एक में [भेदाभावात्] भेद के न होने से [भेदशब्द-प्रयोगानुपपत्तेः] भेद-बोधक शब्दों का प्रयोग उपपन्न (युक्त) न होने के कारण [अप्रश्नः] प्रश्न संगत नहीं है (पूर्वोक्त अवयवि-निराकरणविषयक)।

'अवयवी' नितान्त एक व्यक्तिरूप द्रव्य है। उसे अपने सद्भाव-काल में च्छिन्न नहीं कियाजासकता। कृत्स्न अथवा एकदेश आदि पदों का प्रयोग भेद की अवस्था में सम्भव है। यदि एक चैत्र या मैत्र आदि कोई व्यक्ति सामने उपस्थित होता है, तो यह नहीं कहाजासकता कि ये सब आदमी खड़े हैं, अथवा आदमी का एकदेश खड़ा है। किसी संस्था अथवा आश्रम में पचास व्यक्ति रहते हैं। यदि समस्त पचास व्यक्ति सामने उपस्थित हैं, तो वहाँ 'कृत्स्न' तथा समस्त आदि पदों का प्रयोग उपपन्न है, प्रमाणसिद्ध है। यह पद निर्धारित अनेक व्यक्तियों की अशेषता-सम्पूर्णता का कथन करता है। जितने व्यक्ति आश्रम में हैं, वे सब उपस्थित हैं, कोई शेष नहीं रहा। ये पचास व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न हैं। भिन्न व्यक्तियों की अशेषता में 'कृत्स्न' पद का प्रयोग उपयुक्त है।

यदि पचास व्यक्तियों में बीस, पच्चीस, तीस अथवा और जितने भी न्यूनाधिक उपस्थित हैं, शेष अनुपस्थित, तो वहाँ उपस्थित अथवा अनुपस्थित आश्रमनिवासियों के लिये 'एकदेश' पद का प्रयोग उचित होगा। आश्रमवासियों का एकदेश, एकभाग, एक अंश उपस्थित अथवा अनुपस्थित है। 'एकदेश' पद अनेक व्यक्तियों में से किन्हीं सीमित व्यक्तियों का कथन करता है। इसप्रकार 'कृत्स्न' तथा 'एकदेश' पद का प्रयोग अनेक व्यक्तियों की निर्धारित सम्पूर्णता एवं असम्पूर्णता का बोध कराने के लिये होता है। एक अवयवी में—जो नितान्त एकमात्र द्रव्य है—इन पदों का प्रयोग अनुपपन्न है। फलतः ये सब प्रश्न—एक-एक अवयव कृत्स्न अवयवी में रहता है, अथवा अवयवी के एकदेश में ? तथा प्रत्येक अवयव में अवयवी रहता है, अथवा अवयवों के एकदेश में ?—सर्वथा अनर्गल-असंगत हैं ॥ ११ ॥

सातवें-आठवें सूत्र की व्याख्या में जो यह कहागया कि अवयवी के कारण-भूत अवयवों से अतिरिक्त अन्य कोई अवयव या एकदेश अवयवी के नहीं होते; इसलिए अवयवी के एकदेश में अवयव का विद्यमान होना, अथवा अपने एकदेश से अवयवी का अवयवों में रहना सम्भव नहीं। अवयवी के न मानने में यह हेतु असंगत है; क्योंकि अवयवी के अन्य एकदेश मानलेने पर भी अवयव में अवयव की वृत्ति कहीजासकेगी, अवयवी की नहीं। वह एकदेश अवयवी न होकर अवयव-मात्र है। इसीको सूत्रकार ने बताया—

अवयवान्तरभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः ॥ १२ ॥ (४२४)

[अवयवान्तरभावे] अन्य अवयव (एकदेश) होने पर (अवयवी के,

कारणातिरिक्त), [अपि] भी [अवृत्तेः] वृत्ति-विद्यमानता न होने से (अवयवी की) [अहेतुः] उक्त हेतु असंगत है।

आशंकावादी शिष्य ने तर्क किया-प्रत्येक अवयव अथवा कतिपय अवयवों में अपने एकदेश से अवयवी नहीं रहसकता; क्योंकि कारणभूत अवयवों के अतिरिक्त अन्य कोई अवयव या एकदेश अवयवी का नहीं होता। आचार्य ने इस तर्क का निराकरण यह कहकर किया कि अवयवी के कारणभूत अवयवों से अतिरिक्त यदि अन्य कोई अवयव या एकदेश मान भी लियेजायें, तो भी अवयव में एकदेश से अवयवी का रहना सम्भव नहीं है। जब अवयवी का उसके एकदेश से अवयव में रहना कहाजाता है, तब अवयव में अवयव का ही रहना हम कहते हैं; क्योंकि वह एकदेश अवयवमात्र है, स्वयं अवयवी नहीं। वस्तुतः यह एक प्रकार से वदतोव्याघात है। कहा तो यह जाता है कि अवयव में अवयव (एकदेश) रहरहा है; पर उस रहनेवाले एकदेश को नाम अवयवी देदियाजाता है। यह स्पष्ट असत्य है-जो वाणी से 'एकदेश' कहकर उसे पूर्ण अवयवी बतायाजाता है। इसलिए आशंकावादी का 'अवयवान्तराभावात्' अथवा 'अन्यावयवाभावात्' हेतु असंगत है, जो अवयव में अवयवी के एकदेश से रहने के निराकरण में प्रयुक्त कियागया है। क्योंकि अवयवी के कारणातिरिक्त अन्य अवयव मानलेने पर भी उस एकदेश के द्वारा पूर्ण अवयवी का अवयव में रहना सम्भव नहीं।

वस्तुओं के परस्पर कार्य-कारणभाव पर अवयवी और अवयव का व्यवहार आश्रित है। कार्य कारण में समवेत रहता है; यह 'रहना' (वृत्ति) कार्य-कारण के आधाराधेयभाव को अभिव्यक्त करता है। कार्य आधेय और कारण उसका आधार है। इसका नियामक है-कारणतत्त्वों को छोड़कर कार्य का कहीं अन्यत्र आत्मलाभ न करसकना। कारण-तत्त्व अवयव और कार्यद्रव्य अवयवी होता है। अवयवी अपने कारणभूत अवयवों को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहसकता। इसके विपरीत कारणतत्त्व कार्य के विना रहसकता है। फलतः अवयवों में अवयवी आधाराधेयभाव-सम्बन्ध से विद्यमान रहता है। जितने कारणभूत तत्त्वों से कोई एक कार्यद्रव्य-अवयवी आत्मलाभ करता है-उत्पन्न होता है, उन समस्त अवयवों में वह एक अवयवी समवेत रहता है। कतिपय अवयवों के दृष्टिगोचर होने पर भी अवयवी का पूर्णरूप से प्रत्यक्ष होता है, जो समस्त अवयवों में समवेत है। उपलब्धि की यथार्थता उसकी सफलता से स्पष्ट होजाती है, इसलिए अवयवी की उपलब्धि में अव्यवस्था का कोई प्रश्न नहीं उठता।

द्रव्यों के कारण-कार्यभाव में अवयव-अवयवी का व्यवहार बताया। यहाँ शंका कीजासकती है-नित्य पदार्थों में यह व्यवहार कैसे होगा? वहाँ कार्य-कारणभाव तो सम्भव नहीं। पर आधाराधेयभाव देखाजाता है-आकाश में पक्षी

उड़ता है; आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है; घट में परमाणु का उपयोग होता है, इत्यादि।

आचार्यों ने इसका समाधान किया है—जैसे अनित्यों में आधाराधेयभाव होता है, वैसे नित्यों में समझना चाहिये। इनमें विवेक इसप्रकार होगा—

१. अवयव-अवयवी-व्यवहार केवल द्रव्यों में सम्भव है। जिन द्रव्यों में परस्पर उपादानोपादेयभाव है, वहीं अवयव-अवयवी व्यवहार होता है। इनके आधाराधेयभाव का नियामक सम्बन्ध 'समवाय' है।

२. जहाँ उपादानोपादेयभाव द्रव्यों का न होकर द्रव्य और गुण अथवा कर्म का है, वहाँ कार्य-कारणभाव है, पर अवयव-अवयवी व्यवहार नहीं। उसके स्थान पर गुण-गुणी, अथवा गुण-द्रव्य; एवं कर्म-क्रियावान्, अथवा कर्म-द्रव्य व्यवहार होगा। यहाँ भी इनके आधाराधेयभाव का नियामक सम्बन्ध 'समवाय' होगा। इसमें द्रव्य आधार और गुण तथा कर्म आधेय हैं।

३. जहाँ द्रव्यों का उपादानोपादेयभाव नहीं, पर उनमें आधाराधेयभाव है; जैसे—आकाश में पक्षी उड़ता है, अथवा कटोरे में दूध भरा है, यहाँ आधाराधेयभाव का नियामक सम्बन्ध 'संयोग' होगा, समवाय नहीं। ऐसे आधाराधेय-भाव में दोनों अथवा एक अनित्य अवश्य होगा। इसका तात्पर्य है—दो नित्य पदार्थों [विशेषतः दो नित्य द्रव्यों] का परस्पर आधाराधेयभाव नहीं होता।

आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है, इस वाक्य में आत्मा नित्य द्रव्य और ज्ञान गुण है। यह आधाराधेयभाव संख्या दो के विवरण में आजाता है। घट में परमाणु का उपयोग होता है,-इस वाक्य में अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए चाहे पदों का प्रयोग किसीप्रकार कियागया हो, पर इसमें परमाणु और घट का उपादानोपादेयभाव स्पष्ट है। इसका समावेश संख्या एक में होजाता है।

४. आधाराधेयभाव की एक और विधा है, जहाँ दोनों पदार्थ नित्य हैं। जैसे—नित्य द्रव्यों में द्रव्यत्व जाति का तथा नित्य गुणों में गुणत्व जाति का रहना। यहाँ नित्य द्रव्य तथा नित्य गुण आधार हैं, तथा द्रव्यत्व एवं गुणत्व जाति आधेय हैं। ये आधार और आधेय दोनों नित्य हैं। इसीप्रकार जहाँ नित्य द्रव्यों में नित्य गुण रहते हैं, वे भी इसी विधा में आते हैं। इनके आधारा-धेयभाव का नियामक सम्बन्ध 'समवाय' होता है।

इसप्रकार जहाँ आधाराधेयभाव का नियामक सम्बन्ध समवाय है; आचार्यों ने उसके पाँच स्थल निर्धारित कर दिये हैं—अवयव अवयवी [अथवा कारण-कार्य], गुण—गुणी, क्रिया—क्रियावान्, जाति—व्यक्ति, नित्यद्रव्य—विशेष। इस विषय में यह ध्यान रखना चहिये—जहाँ आधाराधेयभाव का नियामक सम्बन्ध 'संयोग' है, वहाँ सर्वत्र; तथा दोनों नित्य पदार्थों के आधाराधेयभाव में उपादानोपादेयभाव की स्थिति नहीं रहती। इसलिए आधाराधेयभाव के लिए नित्य या अनित्य होना

कोई नियामक बिन्दु नहीं है। जहाँ तक अवयव-अवयवी के आधाराधेयभाव का कथन है, वहाँ उपादानोपादेयभाव अथवा कारण- कार्यभाव निश्चित है।

इस सब विवेचन से स्पष्ट होजाता है-देह आदि अवयवी का होना सिद्ध है। मोक्ष की कामना करनेवाले व्यक्ति के लिए यहाँ केवल इतनी बात कहीगई है कि वह जड़ देहादि अवयवी को चेतन आत्मा न समझे। देहादि अवयवी के आत्मा होने का प्रतिषेध करना यहाँ अभीष्ट है; अवयवी का प्रतिषेध करना नहीं। देह को आत्मा समझने से राग, द्वेष आदि दोषों की उत्पत्ति होती है; इसीकारण उसे [देह में आत्माभिमान को] हेय मानागया है। जैसे रूप आदि विषयों में होनेवाले मिथ्या संकल्प का प्रतिषेध कियाजाता है, रूप आदि विषयों का नहीं। रूपादि विषयों के उपभोग से दुःखों की निवृत्ति होना-समझना ही रूपादि-विषयक मिथ्यासंकल्प है। आशंकावादी शिष्य ने इस यथार्थ को समझकर समुचित सन्तोष का अनुभव किया ॥ १२ ॥

अवयवी न मानने पर उपलब्धि सम्भव—द्वितीय अध्याय के अवयवी-प्रसंग [२। १। ३४-३६] में यद्यपि अवयवी की सिद्धि करदीगई है, तथापि उसको विस्मृत-सा करता हुआ अन्य शिष्य प्रकारान्तर से वस्तुतत्त्व को दृढ़ता-पूर्वक समझने की भावना के साथ जिज्ञासा करता है-वस्तु का ग्रहण अवयवी को न मानने पर भी सम्भव है। वस्तु-प्रत्यक्ष के लिये अवयवी का मानना अनिवार्य नहीं। आचार्य ने उसे सूत्रित किया—

केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥ १३ ॥ (४२५)

[केशसमूहे] केशों के समूह में [तैमिरिकोपलब्धिवत्] तैमिरिक के द्वारा उपलब्धि के समान [तद्-उपलब्धिः] वस्तुमात्र की उपलब्धि होजाती है।

'तैमिरिक' आँखों के उस रोगी व्यक्ति को कहते हैं, जिसे गहरा झुटपुटा होजाने पर साफ दिखाई नहीं देता। मोटा-मोटा दीखता है, ज़रा बारीक चीज़ नहीं दीखती। इसे लोकभाषा में 'रतौन्धा आना' कहते हैं। रात होने पर अन्धा-जैसा होजाना। तैमिरिक व्यक्ति को झुटपुटा होजाने पर सिर के बाल अलग-अलग एक-एक दिखाई न देकर केशसमूह-बालों का एक गुच्छा-सा दिखाई देता है; यद्यपि प्रत्येक बाल उस अवस्था में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व, अपनी स्वतन्त्र इकाई रखता है। इसीप्रकार पृथिवी आदि समस्त जगत् परमाणुओं का समूह है। एक केश के समान परमाणु अकेला पृथक् दिखाई नहीं देता। पर उनका समूह-जो विश्व के रूप में प्रस्तुत है-दिखाई देता है। तात्पर्य है-प्रत्यक्ष-ग्रहण के लिये अवयवी का मानना आवश्यक नहीं। यह ठीक है-परमाणु अकेला दिखाई नहीं देता पर केशसमूह के समान परमाणुसमूह के दीखने में कोई आपत्ति न होनी चाहिये। तब अवयवी को मानने की अपेक्षा नहीं रहती ॥१३॥

अवयवी न मानने पर दोष—आचार्य ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद् विषयग्रहणस्य तथाभावो नाविषये प्रवृत्तिः ॥ १४ ॥ (४२६)

[स्वविषयानतिक्रमेण] अपने ग्राह्य विषय का अतिक्रमण न करने से [इन्द्रियस्य] इन्द्रिय के [पटुमन्दभावात्] पटु अथवा मन्द होने के कारण [विषय-ग्रहणस्य] ग्राह्य विषय के ग्रहण-ज्ञान का [तथाभावः] वैसा होना,-पटु अथवा मन्द होना, होता है, [न] नहीं [अविषये] अपने अग्राह्य विषय में [प्रवृत्तिः] प्रवृत्ति (इन्द्रिय की)।

इन्द्रिय अपने ग्राह्य विषय को कभी लाँघता नहीं। ऐसा कभी नहीं होता कि जो विषय इन्द्रिय के लिए अग्राह्य है, अतीन्द्रिय है, उसको इन्द्रिय ग्रहण करने लगे। इन्द्रिय यदि विषय को ग्रहण करने में पटु है, तीव्र है, तो विषय का ग्रहण पटु होगा, स्पष्ट होगा। यदि इन्द्रिय मन्द है, रोगग्रस्त है, तो विषय का ग्रहण मन्द होगा, अस्पष्ट होगा। तैमिरिक व्यक्ति का इन्द्रिय मन्द है, रोगग्रस्त है, उससे प्रत्येक केश का पृथक् ग्रहण नहीं होपाता। परन्तु जो तैमिरिक नहीं है, वह प्रत्येक केश की अलग स्थिति को स्पष्ट देखलेता है, उसका इन्द्रिय पटु है। यह स्थिति प्रमाणित करती है-एक केश अलग अपनी इकाई के रूप में इन्द्रियग्राह्य है। इन्द्रिय ने यहाँ अपने विषय का अतिक्रमण नहीं किया। यह किसीप्रकार सम्भव नहीं कि रूपग्राहक चक्षु अपने ग्राह्य विषय को लाँघकर अग्राह्य गन्ध आदि का ग्रहण करनेलगे। परमाणु भी चक्षु का अग्राह्य विषय है। वह न परमाणु का, न उसके समूह का ग्रहण करसकता है। क्या कोई यह स्वीकार करेगा कि चक्षु एक गन्ध का ग्रहण न कर गन्धसमूह का ग्रहण करले ? फलतः जब 'यह घट है' ऐसा ग्रहण होता है, वह परमाणुसमूह का ग्रहण न होकर अवयवी का ग्रहण है, जो अवयवों से अतिरिक्त होता हुआ अवयवों [अपने कारणभूत तत्त्वों] में समवेत है।

यदि आग्रहवश कहाजाय-चक्षु से परमाणुसमुदाय का ग्रहण होता है, तो यह समझना चाहिये-क्या परमाणुसमुदाय परमाणु से अतिरिक्त है ? अथवा अनतिरिक्त ? अर्थात् परमाणुरूप ही है। यदि दूसरा विकल्प मानाजाता है, तो परमाणु के समान परमाणुरूप समुदाय के अतीन्द्रिय होने से उसका चक्षु द्वारा ग्रहण होना सम्भव नहीं। यदि प्रथम विकल्प को स्वीकारा जाता है, तो समुदाय नामान्तर से अवयवी सिद्ध होजाता है। परमाणु अपनेरूप में अवस्थित रहतेहुए अतीन्द्रिय हैं; परन्तु जब संहत होकर अतिरिक्त समुदायरूप में गृहीत होते हैं, तब अतीन्द्रियता को छोड़ देते हैं। यही स्थिति तो अवयवी की है। वह समुदाय

जब पुनः बिखरजाता है, तब परमाणुदशा में पहुँचकर पहले के समान इन्द्रिय का विषय नहीं रहता। फलतः अवयवों से अतिरिक्त द्रव्यान्तरभूत अवयवी की उत्पत्ति माने विना लोकव्यवहार में महान् व्याघात उपस्थित होजाता है, जब वस्तुमात्र के ग्रहण न होसकने की स्थिति सन्मुख आती है।

यदि कहाजाय—समस्त ग्राह्य विषय सञ्चयमात्र है; इसको परमाणुओं से अतिरिक्त, द्रव्यान्तर—अवयवी समझना भ्रम होगा।

इस विषय में विचारना चाहिये—'सञ्चय' पद का तात्पर्य क्या है? इसका अभिप्राय है—अनेकों का परस्पर संयोग। संयोग में भी समझना होगा—वह साधारण संयोग है, अथवा विशेष संयोग? साधारण संयोग वह है—जहाँ इकट्ठी रक्खी हुई अनेक संयुक्त वस्तुओं में एकत्व की प्रतीति नहीं होती। जैसे—अन्न की राशि पड़ी है, जिसमें प्रत्येक दाना एक-दूसरे से संयुक्त है; अथवा बर्त्तनों का ढेर, ऊपर-नीचे व बराबर एक-दूसरे से सटे हुए लोटा, थाली, गिलास, कटोरी, कटोरे आदि रक्खे हैं। यह अन्न एवं बर्त्तनों का सञ्चय है। यहाँ अन्न के दानों में तथा बर्त्तनों में एक-दूसरे के साथ साधारणसंयोग है। वहाँ अन्न के दानों और विभिन्न बर्त्तनों में एकत्व-बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। इसके विपरीत अन्य स्थल हैं—घट, पट आदि द्रव्य। यहाँ घट में अनेक कपालरूप अवयवों का, तथा पट में अनेक तन्तुरूप अवयवों का परस्पर विशेष संयोग है। इनका वैशिष्ट्य यही है—इन द्रव्यों में एकत्व का ज्ञान होता है, और वह ज्ञान व्यवहार्य एवं सत्य है।

प्रकृत में देखना यह है—परमाणुओं के परस्पर संयोग से जो ग्राह्य विषय को परमाणु-सञ्चयमात्र कहाजाता है, उसकी स्थिति क्या है? इसमें पहली आपत्ति है—विषय का इन्द्रियग्राह्य न होसकना। परमाणु अपनी अवस्था में किसीप्रकार इन्द्रियग्राह्य नहीं होते। अतीन्द्रिय पदार्थों का परस्पर संयोग भी अतीन्द्रिय होता है। परमाणु-सञ्चय—जो परमाणुओं का संयोगमात्र है, परमाणुओं के अतीन्द्रिय होने से वह भी अतीन्द्रिय रहेगा। तब इन्द्रियों द्वारा विषय का ग्रहण कियाजाना किसीप्रकार सम्भव न होगा, जो प्रत्यक्ष के विपरीत है।

आगे परमाणु-सञ्चय में परमाणुओं का परस्पर साधारण संयोग स्वीकार कियाजाता है, तो किसी ग्राह्य विषय में एकत्व की प्रतीति न होनी चाहिये; जैसे—अनाज व बर्त्तन आदि के ढेर में नहीं होती। ऐसा होना प्रत्यक्ष के विपरीत है। लोक में अनेकानेक पदार्थ व्यक्तिरूप से एकत्व के साथ प्रतीत होते हैं।

यदि परमाणु-सञ्चय में परमाणुओं का परस्पर विशेष संयोग मानाजाता है, और उसके आधार पर ग्राह्य विषयों में एकत्व-प्रतीति का सामंजस्य स्थापित कियाजाता है, तो एक प्रकार से अवयवी का होना सिद्ध होजाता है। एकत्व प्रतीति का विषय स्वयं परमाणु नहीं होसकते, क्योंकि वे स्वरूप से अनेक हैं। अनेक में एकत्वबुद्धि मिथ्याबुद्धि होगी। यदि कहाजाय—परमाणु-सञ्चय एकत्व-

बुद्धि का विषय है, तो सञ्चय को परमाणुओं से अतिरिक्त मानना होगा। वही अवयवी का स्वरूप है।

इस विवेचन के फलस्वरूप यह स्थिति सामने आती है—अनेकों का संयोग-रूप सञ्चय, जब इन्द्रियग्राह्य विषयों का होता है, तब वह संयोग भी इन्द्रिय-ग्राह्य होता है। प्रत्येक व्यक्ति दो इन्द्रियग्राह्य पदार्थों के संयोग को स्पष्ट देखता है—यह पदार्थ इससे संयुक्त है, इनके संयोग को प्रत्यक्ष देखरहा हूँ। इसके विपरीत अतीन्द्रिय परमाणुओं का संयोग अतीन्द्रिय होगा, इसलिए यह सर्वथा अयुक्त है कि परमाणु-सञ्चय इन्द्रिय-ग्राह्य विषय होता है।

जो विषय इन्द्रिय से गृहीत होजाता है, उसकी अनुपलब्धि का कारण या तो कोई आवरण आदि होसकता है, अथवा विषय को ग्रहण करने में इन्द्रिय की क्षमता का न रहना कहाजासकता है। परमाणु-सञ्चय की अनुपलब्धि के लिए न तो किसी आवरण का पता लगता है, और न इन्द्रिय की दुर्बलता को कारण मानाजासकता है। जैसे गन्ध के ग्रहण न करसकने में चक्षु की दुर्बलता को कारण नहीं कहाजासकता, प्रत्युत चक्षु द्वारा अग्राह्य होना उसका कारण है। इसीप्रकार परमाणु इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य होने से वह इन्द्रियों का विषय नहीं होसकता। इन्द्रियों से जो ग्राह्य होता है, वह अवयवी है, तथा उसके आश्रित, एवं अन्य द्रव्याश्रित पदार्थ-धर्म ॥ १४ ॥

अवयवी को स्वीकार न करने पर आचार्य ने अन्य दोष बताया—

अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ॥ १५ ॥ (४२७)

[अवयवावयविप्रसङ्गः] अवयव और अवयवी का प्रसङ्ग-अनुक्रम, सिलसिला (चल पड़ता है) [च] तथा [एवम्] इसप्रकार (वृत्तिविकल्प से अवयवी को स्वीकार न करने पर) [आप्रलयात्] प्रलय-विनाश-शून्य पर्यन्त पहुँचने तक (वस्तुतत्त्व के)।

गत प्रसङ्ग में जो यह कहागया कि—अवयवों में अवयवी की वृत्ति-विद्यमानता का प्रतिषेध होने से अवयवी नहीं है; यह सिलसिला उसके अवयवों तथा और आगे उसके भी अवयवों में प्राप्त होता हुआ वस्तुमात्र के प्रलय-विनाश के लिए सिद्ध होसकता है, अथवा निरवयव परमाणु पर जाकर ठहरसकता है। दोनों प्रकार से वस्तुमात्र की उपलब्धि का होना असम्भव होजायगा।

जब कहाजाता है—अवयवों में अवयवी का रहना युक्त नहीं है, तब आगे भी यह कहाजासकेगा कि उन अवयवों का अपने अवयवों में रहना उपपन्न नहीं है। ऐसे ही आगे उन अवयवों का अपने अवयवों में विद्यमान होना युक्त न होगा। यह क्रम या तो वस्तुमात्र का शून्य में पर्यवसान करेगा, अथवा परमाणु-पर्यन्त पहुँचकर रुक जायगा। दोनों अवस्थाओं में वस्तुमात्र का उपलब्ध होना

सम्भव न रहेगा। यदि शून्य में पर्यवसान है, तो शून्य-अभाव का भावरूप में परिवर्तित होना अशक्य होने से वस्तुमात्र का उपलब्ध होना असम्भव होजायगा। यदि वह क्रम परमाणु पर रुकजाता है, तो परमाणु के अतीन्द्रिय होने से उनका समुदाय भी अतीन्द्रिय होगा। तब परमाणुसमुदायरूप विश्व की प्रत्यक्ष उपलब्धि होना सम्भव न होगा। दोनों अवस्थाओं में वस्तु की उपलब्धि का अभाव प्रसक्त होजायगा, जो प्रत्यक्ष के विपरीत है।

इसके अतिरिक्त अवयवों में अवयवी की वृत्ति [विद्यमानता] का प्रतिषेध उपलब्धि के आश्रय पर कियागया है, क्योंकि वस्तु की उपलब्धि के विना अवयवों में उसकी विद्यमानता का प्रतिषेध सम्भव न होगा। तब वह विद्यमानता [वृत्ति] का प्रतिषेध अपने कारणीभूत उपलब्धि का व्याघात करता हुआ अपना ही नाश करलेगा। वस्तु की उपलब्धि न होगी, तो वृत्ति-प्रतिषेध भी न हो-सकेगा। इसलिए अवयवों में अवयवी की वृत्ति का प्रतिषेध न कियाजाना चाहिये। उस दशा में स्वतः अवयवी सिद्ध होजाता है ॥ १५ ॥

वस्तुतत्त्व अभाव नहीं—वस्तुतत्त्व का शून्य दशा में पहुँचना, अथवा सर्वथा अभाव होजाना यह सम्भव नहीं। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

न प्रलयोऽणुसद्भावात् ॥ १६ ॥ (४२८)

[न] नहीं [प्रलयः] विनाश, अभाव (सर्वशून्य होना वस्तु तत्त्व का), [अणुसद्‌भावात्] परमाणु-दशा में वस्तुतत्त्व के विद्यमान रहने से।

किसी वस्तु का आगे-आगे अवयव-विभाग या विश्लेषण करते जाने पर यह परम्परा परमाणु पर जाकर थमजाती है। परमाणु निरवयव है, और आगे उसका अवयवविभाग असम्भव है। निरवयव होने का तात्पर्य है—उस पदार्थ का छोटे-से-छोटा अवयव, जिसका आगे विभाजन सम्भव नहीं। जैसे—पृथिवी अथवा किसी पार्थिव पदार्थ का विभाजन करते जाने पर पृथिवी का जो सर्वान्तिम कण रहता है, वह पृथिवी-परमाणु है। पृथिवीजातीय पदार्थ के रूप में आगे उसका विभाजन नहीं होगा। यदि विभाजन सम्भव है, तो उसके अनन्तर वे अवयव-तत्त्व पृथिवीजातीय नहीं रहेंगे; अन्य कुछ भी तन्मात्र आदि रूप उनका रहो। इसलिए पृथिवीजातीय अन्तिम कण अपने रूप में निरवयव है। वही अल्पतम पृथिवी का परमाणु है। जलादि परमाणुओं के विषय में भी इसी स्थिति को समझना चाहिये। पार्थिव आदि परमाणुओं को अविभाज्य मानने का यही तात्पर्य है। न्याय-वैशेषिक शास्त्र में इसी आधार पर पार्थिव आदि परमाणु को नित्य मानलियागया है। फलतः उपलभ्यमान अवयवी का सर्वथा अभाव में अथवा शून्य में पर्यवसान नहीं होता। प्रत्येक उपलभ्यमान पदार्थ अपने विद्यमान रूप में न रहने पर उपादानकारण के रूप में विद्यमान बना रहता है ॥ १६ ॥

परमाणु निरवयव क्यों—वस्तुतत्त्व-विभाजन के परिणामस्वरूप सर्वान्तिम वस्तु-कण निरवयव क्यों मानाजाता है; सूत्रकार ने बताया—

परं वा त्रुटेः ॥ १७ ॥ (४२६)

[परम्] पर है, (और अधिक सूक्ष्म है, जो) [वा] तथा [त्रुटेः] त्रुटि से–त्रसरेणु से (वह परमाणु है) ।

सूत्र का 'त्रुटि' पद स्त्रीलिङ्ग है, त्रसरेणु का पर्याय है । इसी अर्थ में अन्य कतिपय पुल्लिङ्ग पदों–लव, लेश, कण, अणु आदि का प्रयोग होता है[1] । दो परमाणुओं के संयुक्त होने पर एक द्व्यणुक तथा तीन द्व्यणुकों के संयुक्त होने पर त्रसरेणु उत्पन्न होता या बनता है । त्रसरेणु के अर्थ में 'त्रुटि' पद का प्रयोग है । प्रत्येक स्थूल वस्तु विभक्त होते-होते त्रसरेणु-अवस्था में पहुँचती है । उसका विभाग होजाने पर वह द्व्यणुक रूप में आजाती है । द्व्यणुक का विभाग होजाने से परमाणु निरवयव रहजाता है । वस्तु-विभाजन का किसी स्तर पर अन्त मानना आवश्यक है । यदि यह नहीं मानाजाता, तो त्रसरेणु के विभाजन का कहीं अन्त न होने से त्रसरेणु असंख्येय द्रव्यों का समवाय होगा ; इसीके समान प्रत्येक वस्तु असंख्येय द्रव्यों का समवाय मानाजायगा, तब वस्तुओं का अनुभूयमान नियत परिमाण सर्वथा अव्यवस्थित होजायगा । प्रत्येक वस्तु में अवयव-आनन्त्य की समानता से सबका समान-परिमाण होना प्राप्त होगा; जो सर्वथा अनुपपन्न है । ऐसी दशा में त्रुटि का त्रुटित्व [त्रसरेणुपना] समाप्त होजायगा । अतः वस्तु-विभाजन के फलस्वरूप वस्तु के अन्तिम स्तर को निरवयव मानना आवश्यक व प्रमाण-संगत है । उसीका नाम परमाणु है ।

परमाणुओं के परस्पर संयोगविशेष से द्व्यणुकादिक्रम द्वारा स्थूल द्रव्य की उत्पत्ति होती है; वही अवयवी का स्वरूप है । उसीका इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष ग्रहण होता है । इसलिए अवयवों से उत्पन्न अवयवों में समवेत अवयवी का प्रत्याख्यान सर्वथा अनुपपन्न है । अन्यथा समस्त लोकव्यवहार के उच्छेद होजाने की स्थिति प्राप्त होसकती है ॥ १७ ॥

परमाणु निरवयव नहीं—अवयवी के अस्तित्व की सिद्धि से सन्तुष्ट होजाने पर भी, परमाणु की स्थिति के आधार पर प्रकारान्तर से शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है । परमाणु को निरवयव सिद्ध कियागया, तथा आकाश को सर्वव्यापक एवं विभु कहाजाता है । इसी आधार पर शिष्य की उद्भूत जिज्ञासा व आशंका को आचार्य ने सूत्रित किया—

आकाशव्यतिभेदात् तदनुपपत्तिः ॥ १८ ॥ (४३०)

---

१. 'त्रुटिस्त्रसरेणुरित्यनर्थान्तरम्' तात्पर्यटीका । 'स्त्रियाँ मात्रा त्रुटिःपुंसि लवलेशकणाणवः' अमरकोष ।

[आकाशव्यतिभेदात्] आकाश के समावेश से (परमाणु में) [तद्-अनुपपत्तिः] परमाणु का निरवयव होना अनुपपन्न है।

परमाणु को निरवयव तथा नित्य नहीं मानाजाना चाहिये, क्योंकि विभु होने से आकाश उसके अन्दर-बाहर व्याप्त रहता है। परमाणु में आकाश का समावेश परमाणु की निरवयवता को समाप्त करदेता है। किसी वस्तु में किसीका समावेश उस वस्तु के अन्दर-बाहर के रूप में अवयवों की कल्पना के विना सम्भव नहीं। अवयवों के सद्भाव में परमाणु को निरवयव कहना निराधार है। तब सावयव होने से वह नित्य नहीं मानाजासकता। सावयव द्रव्य सब अनित्य होते हैं। अनित्य का विनाश आवश्यक होने से परमाणु का भी विनाश होगा। तब क्या वस्तुमात्र का पर्यवसान अभाव में मानने के लिए बाध्य होना पड़ेगा? ॥ १८ ॥

परमाणु की निरवयवता व नित्यता को अबाधित रखने के लिए यदि कहाजाय–परमाणु में आकाश का समावेश नहीं है, तब—

आकाशासर्वगतत्वं वा ॥ १९ ॥ (४३१)

[आकाशासर्वगतत्वम्] आकाश का असर्वगत (सब पदार्थों में व्याप्त न) होना (दोष प्राप्त होता है) [वा] अथवा–(अन्य पक्ष में)।

यदि अन्य पक्ष को लक्ष्य कर कहाजाता है; परमाणु में आकाश का समावेश नहीं है; तो आकाश को सर्वगत–व्यापक मानाजाना असंगत होगा। यह उभयतःपाशा रज्जु है। सिद्धान्त-पक्ष दोनों ओर से फाँस में आरहा है। यदि आकाश को विभु–सर्वगत मानाजाता है, तो परमाणु का नित्य होना नहीं बनता। यदि परमाणु की नित्यता को सुरक्षित रक्खाजाता है, तो आकाश का सर्वगत होना समाप्त होजाता है। आकाश विभु रहे, और परमाणु नित्य रहे; यह बात बनती दिखाई नहीं देती। इसका उपयुक्त समाधान होना चाहिये॥ १९ ॥

कार्य-द्रव्य में 'अन्तः'-'बहिः' प्रयोग—आचार्य सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनादकार्ये तदभावः ॥ २० ॥ (४३२)

[अन्तः] अन्दर [बहिः] बाहर [च] और (ऐसे व्यवहार में) [कार्य-द्रव्यस्य] कार्य द्रव्य के [कारणान्तरवचनात्] विभिन्न कारणों का कथन होने से [अकार्ये] अकार्य में (जो किसी का कार्य नहीं है, ऐसे परमाणु आदि द्रव्य में) [तद्–अभावः] उस–अन्दर-बाहर का अभाव रहता है।

परमाणु नित्य-निरवयव—अन्दर-बाहर व्यवहार केवल कार्यद्रव्य में सम्भव है। जब किसी द्रव्य को लक्ष्य कर 'अन्दर' पद का प्रयोग कियाजाता है, तब

बाहर के कारण-अवयवों से ढके हुए अन्य कारण-अवयवों का उस पद से अभिलापन होता है। इसीप्रकार 'बाहर' पद के प्रयोग में इस पद से उन कारण-अवयवों का कथन होता है, जो अन्य अवयवों को ढकनेवाले अवयव हैं। इस-प्रकार 'बहिः' और 'अन्तः' पद किसी कार्य के विभिन्न कारणों–अवयवों का कथन करते हैं। इन पदों का अन्य कोई अर्थ सम्भव नहीं। इससे स्पष्ट है–इनका प्रयोग किसी कार्य-द्रव्य को लक्ष्य कर कियाजासकता है; अकार्य-द्रव्य में नहीं। अकार्य-द्रव्य के किन्हीं कारणों–अवयवों का होना सम्भव नहीं, अतः ऐसे द्रव्य के विषय में उक्त पदों का प्रयोग असंगत है। परमाणु ऐसा ही द्रव्य है; वहाँ 'अन्तः, बहिः' प्रयोग अयुक्त हैं। किसी भी पदार्थ का अल्पतम कण, एक अवयवमात्र 'परमाणु' होता है। फलतः उसके निरवयव एवं नित्य होने में कोई बाधा नहीं ॥ २० ॥

आकाश की विभुता अबाध्य—यदि परमाणु नित्य निरवयव है, उसमें 'अन्दर-बाहर' व्यवहार अयुक्त है। तब आकाश का उसमें समावेश न होने पर वह 'सर्वगत' कैसे मानाजायगा? आचार्य ने बताया—

शब्दसंयोगविभवाच्च सर्वगतम् ॥ २१ ॥ (४३३)

[शब्द-संयोगविभवात्] शब्द के सर्वत्र होने से तथा संयोग के समस्त मूर्त्त द्रव्यों के साथ होने से [च] और [सर्वगतम्] सर्वगत मानाजाता है (आकाश)।

आकाश को सर्वगत अथवा विभु इस कारण मानाजाता है कि शब्द अपने आघात आदि निमित्तों के उपस्थित होने पर सर्वत्र उत्पन्न होता अनुभव किया-जाता है। शब्द आकाश का गुण है, उसके आश्रित रहता है। शब्द का सर्वत्र उत्पन्न होना तथा तरङ्गित होकर प्रदेशान्तर में सुनाजाना आकाश के सर्वगत होने का साधक है; यही उसका स्वरूप है।

आकाश के सर्वगत होने का दूसरा प्रयोजक है–समस्त मूर्त्त द्रव्यों के साथ आकाश का संयोग। एकदेशी द्रव्य मूर्त्त कहाजाता है। जिसमें क्रिया हो, गति हो, वह द्रव्य मूर्त्त है। कोई ऐसा मूर्त्त द्रव्य उपलब्ध नहीं, जिसका आकाश के साथ संयोग न हो। अतिसूक्ष्म मन आदि द्रव्य, परमाणु तथा परमाणुओं के जितने कार्य हैं, जो दूरातिदूर समस्त विश्व के रूप में फैले पड़े हैं, प्रत्येक का आकाश के साथ संयोग है। प्रत्येक मूर्त्त द्रव्य को अपनी स्थिति के लिए, गति के लिए अवकाश अपेक्षित होता है। अवकाश प्रदान करना आकाश-धर्म एवं उसका स्वरूप है। मूर्त्तद्रव्यमात्र का आकाश के साथ संयोग आकाश के विभु होने का प्रयोजक है। विभु का यही स्वरूप है ॥ २१ ॥

आकाश के धर्म—इसी प्रसंग से आचार्य ने आकाश-धर्मों का निर्देश किया—

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः ॥ २२ ॥ (४३४)

[अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि] अव्यूह, अविष्टम्भ तथा विभु होना [च] और [आकाशधर्माः] आकाश के धर्म हैं ।

'व्यूह'–रचना होना या इकट्ठे होना–को कहते हैं । सक्रिय प्रतिघाती द्रव्य से–बिखरी या बहती चीज़ को–एकत्रित करदियाजाना 'व्यूह' है । बिखरी हुई मट्टी-धूल या अनाज को फावड़े या लकड़ी या लकड़ी के फट्टे से समेटकर इकट्ठा करदियाजाता है । बहते पानी को आगे लकड़ी का तख्ता लगाकर अथवा बाँध बनाकर रोकदियाजाता है । जलराशि लौटकर इकट्ठा होजाती है । प्रतिघाती सावयव द्रव्य द्वारा ऐसा होता है । इसका नाम 'व्यूह' है । आकाश से ऐसा होना सम्भव नहीं, अतः आकाश 'अव्यूह' द्रव्य है । न वह स्वयं सिमटता, न किसी अन्य को समेट सकता है । अतः वह निरवयव है ।

'विष्टम्भ' प्रतिघात अथवा रुकावट को कहते हैं । किसी गतिशील-सक्रिय द्रव्य को आकाश रोकता नहीं । रोकना स्पर्शवाले द्रव्यों का धर्म होता है । सरकते या बहते हुए द्रव्य का आकाश के द्वारा न रोकाजाना आकाश के 'अविष्टम्भ' स्वरूप को प्रकट करता है । 'रोकना' धर्म सदा स्पर्शवाले सावयव द्रव्य में देखेजाने से आकाश का अस्पर्श व निरवयव होना प्रमाणित होता है ।

प्रत्येक सक्रिय द्रव्य की क्रिया के होने में रुकावट न डालने के कारण उस द्रव्य का आकाश के साथ संयोग होना प्रमाणित होता है । यह स्थिति आकाश के विभु होनेको स्पष्ट करती है । क्रिया एवं क्रिया के कारण होनेवाले उत्तरदेश संयोग तथा पूर्वदेशविभाग आदि के लिए आकाश निर्बाध अवकाश का प्रदान करता है; उस दशा में सक्रिय द्रव्य का आकाश के साथ संयोग सर्वथा शंकारहित है । विश्वरूप में सर्वत्र प्रसृत सक्रिय द्रव्यों का आकाश के साथ यह संयोग आकाश के विभु होने को सिद्ध करता है । आकाश के विभु अथवा सर्वगत होने का यही स्वरूप है ।

परमाणु की नित्यता—इसीके अनुसार परमाणु का आकाश के साथ संयोग है । इसका यह तात्पर्य नहीं कि आकाश परमाणु में समाविष्ट है, और इस कारण परमाणु सावयव एवं अनित्य मानाजाना चाहिये । कोई द्रव्य अनित्य उस समय मानाजाता है, जब उसके कारणभूत-अवयव द्रव्य विद्यमान हों । यदि परमाणु को सावयव मानाजाता है, तो उसके कारण–द्रव्य अवयव अवश्य उससे अधिक सूक्ष्म होंगे; क्योंकि कार्य और कारण के परिमाण में सदा भेद देखाजाता है । कार्य द्रव्य स्थूल और कारण उसकी अपेक्षा सूक्ष्म होता है । इसलिए यदि किसी अतिसूक्ष्म द्रव्य के कारणभूत अवयव विद्यमान हैं, तो निश्चित ही वह परमाणु-तत्त्व नहीं है, उसे परमाणुओं का कार्य समझना चाहिये । अतएव

'अन्तः, बहिः' आदि प्रयोगों के द्वारा जिसका प्रतिषेध कियागया; वह परमाणुओं के कार्य का प्रतिषेध कहाजासकता है, परमाणु का नहीं। वस्तुतः वह कार्य-द्रव्य की नित्यता व निरवयवता का प्रतिषेध है, परमाणु की नित्यता व निरवयवता का नहीं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होजाता है–किसी द्रव्य की अनित्यता उसके कारणों के विभाग से जानीजाती है; इससे नहीं कि उसमें आकाश का समावेश है। एक मिट्टी का डला इसीलिए अनित्य है कि उसके अवयवों का विभाग होजाता है, और पूर्व-स्वरूप में अवस्थित नहीं रहता। वह इसलिए अनित्य नहीं कि उसमें आकाश का समावेश है। फलतः परमाणु निरवयव एवं नित्य है, यह प्रमाणित होता है ॥ २२ ॥

मूर्त्त होने से परमाणु सावयव—द्रव्य के मूर्त्त-स्वरूप को लक्ष्य कर शिष्य प्रकारान्तर से पुनः आशङ्का करता है। शिष्य की आशङ्का को आचार्य ने सूत्रित किया—

मूर्त्तिमताञ्च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ॥ २३ ॥ (४३५)

[मूर्त्तिमताम्] मूर्त पदार्थों के [च] तथा [संस्थानोपपत्तेः] संस्थान–आकृतियुक्त होने से [अवयवसद्भावः] अवयवों की विद्यमानता (वहाँ सिद्ध होती है)।

उक्त विवेचन के अतिरिक्त मूर्त्त पदार्थों के विषय में यह विचारणीय है कि उसे किसी आकृति से युक्त अवश्य होना चाहिये। प्रत्येक मूर्त्त पदार्थ का कुछ आकार निश्चयरूप से होगा। वह तिकोना हो, चौकोर हो, आयताकार हो, सम हो, लम्बा बेलन आकार हो, गोल आकार हो मूर्त्त का आकार अवश्य होगा। सूत्र के 'संस्थान' पद का अर्थ है अवयवों के सन्निवेश-संघटन से बना आकार-विशेष। परमाणु भी मूर्त्त पदार्थ है; उसका आकार गोल-वर्तुल मानाजाता है, इसीकारण उसे 'परिमण्डल' कहते हैं। तब परमाणु को सावयव मानाजाना चाहिये। सावयव होने से अनित्य होगा॥ २३ ॥

संयोग से परमाणु सावयव—इसके अतिरिक्त परमाणु के सावयव व अनित्य होने का अन्य कारण है—

संयोगोपपत्तेश्च ॥ २४ ॥ (४३६)

[संयोगोपपत्तेः] संयोग की उपपत्ति-सिद्धि से [च] भी (परमाणु सावयव एवं अनित्य है)।

संयोग को अव्याप्यवृत्ति मानाजाता है। जिन दो द्रव्यों का परस्पर संयोग होता है, वे एक-दूसरे में समा नहीं जाते, प्रत्युत दोनों का कोई-सा एक भाग एक-दूसरे से संयुक्त होता है। एक-दूसरे में व्याप्त न होने से संयोग को

अव्याप्यवृत्ति मानाजाता है। जब एक परमाणु से दूसरा परमाणु संयुक्त होता है, तब वह पहले के एक ओर संयुक्त होगा। अन्य परमाणु पहले परमाणु के दूसरी ओर आकर मिलजाता है। पहले परमाणु के दोनों ओर दो अन्य परमाणु संयुक्त हैं। मध्यगत पहला परमाणु अन्य दो परमाणुओं को परस्पर नहीं मिलने देता। उनके मध्य में व्यवधान बना बैठा है। मध्यगत परमाणु एक ओर से एक परमाणु के साथ, तथा दूसरी ओर से अन्य परमाणु के साथ संयुक्त है। दो के मध्य में व्यवधान तथा पर-अपर भाग से संयोग की स्थिति परमाणु को स्पष्ट सावयव सिद्ध करदेती है। 'भाग' एवं 'अवयव' एक अर्थ को कहनेवाले विभिन्न पद हैं। इस दशा में परमाणु का निरवयव व नित्य होना सन्दिग्ध प्रतीत होता है।

यद्यपि आचार्य ने यह बात प्रथम समझा दी है कि किसी कार्यद्रव्य का अल्पतम–छोटे से छोटा कण परमाणु है। ऐसे द्रव्य का विश्लेषण-विभाजन होता हुआ जब सर्वान्तिम स्तर पर पहुँच जाता है, और आगे उस अल्पतम कण का उसी रूप में [पृथिवी कण है, तो पृथिवीरूप में; जलीय कण है, तो जल रूप में] विभाजन होना असम्भव होजाता है, द्रव्य की उस स्थिति का नाम 'परमाणु' है। यदि आगे विभाजन सम्भव होगा, तो वह द्रव्य का अल्पतम परमाणु कण नहीं मानाजायगा। इसलिए परमाणु में संस्थान–अवयवसन्निवेश का होना सम्भव नहीं। वह दो परमाणुओं में व्यवधान अपने अस्तित्व के कारण करता है, अवयवसन्निवेश के कारण नहीं। उत्पादक भूततत्त्व होना उसका अस्तित्व है। पूर्व-अपर भाग की कल्पना गौण है। उसका व्यवधायक अस्तित्व ही वह गुण है, जो उसमें पूर्व-अपर भाग की कल्पना करादेता है। वस्तुतः मुख्यरूप से परमाणु के कोई भाग नहीं होते। यदि भाग होते, तो उसी तत्त्व के रूप में उसके विभाजन को कोई रोक नहीं सकता। तब वह 'परमाणु' नहीं रहेगा। इसलिए मूर्त्त एवं संयोग के आधार पर जो प्रतिषेध है, वह परमाणु का प्रतिषेध न होकर परमाणु के कार्य का प्रतिषेध कहाजासकता है ॥ २४ ॥

परमाणु की नित्यता अबाध्य—मूर्त्त द्रव्यों के आकार और परमाणुओं के संयोग को लक्ष्य कर परमाणुओं की सावयवता व अनित्यता को सिद्ध करनेवाले उक्त हेतुओं के विषय में आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चा-
प्रतिषेधः ॥ २५ ॥ (४३७)

[अनवस्थाकारित्वात्] अनवस्थाकारी–अनवस्था दोष के उद्भावक होने से [अनवस्थानुपपत्तेः] अनवस्था के उपपन्न-युक्त न होने से [च] तथा [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध असंगत है (परमाणु की निरवयवता एवं नित्यता का)।

परमाणु की निरवयवता और नित्यता पर सन्देह करते हुए शिष्य ने अपने

विचार की पुष्टि के लिए दो हेतु प्रस्तुत किये–'मूर्त्तिमतां संस्थानोपपत्तेः' तथा 'संयोगोपपत्तेः'। इन हेतुओं से परमाणु को सावयव सिद्ध कियागया। आचार्य का कहना है–ये दोनों हेतु परमाणु को सावयव बताकर अनवस्था-दोष की उद्भावना के प्रयोजक होजाते हैं। कार्यद्रव्य के विभाजन का कोई अन्तिम स्तर अवश्य मानना चाहिये। यदि अन्तिम स्तर अभिमत परमाणु को मानकर उसे सावयव कहाजाता है, तो विभाजन की इस परम्परा का कहीं पर्यवसान न होने से अनवस्था-दोष प्रसक्त होगा। यदि ऐसी स्थिति को दोष नहीं मानाजाता, तो वे हेतु सच्चे कहेजासकेंगे। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं; क्योंकि अवयव-विभाग की परम्परा अनन्त होने पर न किसी वस्तु के यथार्थ परिमाण का और न गुरुत्व का ग्रहण होसकेगा। सभी वस्तुओं का परिमाण व गुरुत्व समान होना प्रसक्त होगा। प्रत्येक वस्तु के अवयवों की सीमा न होना द्रव्यमात्र का समानधर्म होने से सबका परिमाण व गुरुत्व आदि समान होगा। ऐसा होने पर विभज्यमान पदार्थ का अपना वैयक्तिक अस्तित्व समाप्त होजायगा, जो प्रत्यक्षादि समस्त प्रमाणों के विपरीत है। इसलिए कार्यद्रव्य के अवयव-विभाग की परम्परा का कोई अन्तिम स्तर होना आवश्यक है, जिससे प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्ध पदार्थ का अस्तित्व निर्बाध बना रहसके। इससे वस्तुमात्र का पर्यवसान–प्रलय-सर्वात्मना विनाश में एवं अभावरूप में–होने से भी बचाजासकता है। फलतः कार्यद्रव्य के विभागानन्तर अन्तिम स्तर परमाणु को निरवयव व नित्य मानना पूर्णरूप से प्रामाणिक एवं संगत है॥ २५॥

अवयवी अवयवातिरिक्त नहीं—गत प्रसंग में यह सिद्ध कियागया कि जो द्रव्य-पदार्थ बुद्धि का विषय होता है, वह अवयवी-तत्त्व है। इन्द्रियादि साधनों द्वारा घट-पट आदि के रूप में होनेवाले ज्ञान का विषय अवयवी होता है। ऐसी स्थिति की वास्तविकता को और गहराई के साथ समझने की भावना से शिष्य आशंका करता है–ज्ञान के आश्रय पर अवयवी-रूप विषय का स्वीकार कियाजाना सन्दिग्ध है, क्योंकि बुद्धि द्वारा तथाकथित विषय-वस्तु का विवेचन करने पर अवयवों के अतिरिक्त वहाँ अन्य किसी का अस्तित्व प्रतीत नहीं होता। शिष्य-भावना को आचार्य ने सूत्रित किया—

बुद्ध्या विवेचनात्तु भावाना याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः॥ २६॥ (४३८)

[बुद्ध्या] बुद्धि-ज्ञान द्वारा [विवेचनात्] विवेचन–(वस्तु का) विश्लेषण करने से [तु] तो [भावानाम्] भावों-पदार्थों के [याथात्म्यानुपलब्धिः] वस्तु-सत् होने की उपलब्धि नहीं होती, [तन्त्वपकर्षणे] एक-एक तन्तु के खींचलिये-जाने पर (पट के) [पटसद्भावानुपलब्धिवत्] पट के सद्भाव की अनुपलब्धि के

समान [तद्-अनुपलब्धिः] वस्तुमात्र की (अवयवी के रूप में) अनुपलब्धि समझनी चाहिये ।

ज्ञानग्राह्य विषय-वस्तु की यथार्थता क्या है ? इसे समझने के लिये उदाहरणरूप में एक पट (वस्त्र) को देखिये । उसमें तन्तुओं के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु-तत्त्व दिखाई नहीं देता । एक-एक तन्तु को अलग करदेने पर उनके अतिरिक्त वहाँ और कुछ नहीं बचता, जो उपलब्ध होकर 'पट' बुद्धि का विषय कहाजाय । तात्पर्य है-अवयवीरूप में ऐसा कोई तत्त्व नहीं है, जिसे 'पट' नाम दियाजाय । इसलिये जो पदार्थ नहीं है, उसमें वैसा ज्ञान होना अयथार्थज्ञान है । फलतः पटज्ञान को मिथ्याज्ञान समझना चाहिए । यदि यह यथार्थज्ञान हो, तो तन्तु-अवयवों के अतिरिक्त वह अवयवीरूप विषय दिखाई देना चाहिए । यह दोनों ओर से गले की फाँस है । यदि पटादि बुद्धि को यथार्थ मानाजाता है, तो तन्तु-अवयवों को छाँट देने पर अवयवी अलग दिखाई देना चाहिए, जो ज्ञान का विषय कहाजारहा है । यदि न दीखने के कारण वस्तुतः उसका अभाव है, तो 'पटज्ञान' को निश्चित ही मिथ्याज्ञान कहना होगा । इसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है । अन्यथा अवयवी का अस्तित्व सन्दिग्ध बना रहेगा ॥ २६ ॥

अवयवी को अवयवरूप कहना व्याहत—आचार्य सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

व्याहतत्वादहेतुः ॥ २७ ॥ (४३९)

[व्याहतत्वात्] विरोधी होने से (अपने कथन का), [अहेतुः] उक्त हेतु साध्य का साधक नहीं ।

आशंका उठाने के अवसर पर कहागया—भावों का बुद्धिपूर्वक विवेचन करने से वस्तुभूत (अवयवीरूप) भाव पदार्थ प्रतीत नहीं होता । यह कथन अपने में ही विरोधी है-यदि भाव नहीं है, तो विवेचन-विश्लेपण किसका कियाजारहा है ? 'भाव'को माने बिना विश्लेपण की बात करना निराधार होजाता है । 'भावों का विश्लेपण' तथा 'भाव नहीं' ये दोनों वाक्य परस्पर-विरोधी हैं । यदि इस लचर कथन के सहारे पर भाव-तत्त्व (अवयवी) को झुठलायाजाता है, तो वस्तु के अवयव-विश्लेपण की कोई सीमा स्वीकार न कियेजाने से गत पन्द्रहवें सूत्र में प्रदर्शित आपत्तिजनक स्थिति सामने आजाती है । उसकी उपेक्षा नहीं कीजा-सकती ॥ २७ ॥

अवयवी का ग्रहण, आश्रय-अवयवों से पृथक् नहीं—भाव के अवयवीरूप में अवयवों से अतिरिक्त गृहीत न होने का कारण आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् ॥ २८ ॥ (४४०)

[तद्-आश्रयत्वात्] उन अवयवों के आश्रित होने से (अवयवी-भाव के)

[अपृथग्ग्रहणम्] अवयवों से पृथक् रहकर अवयवी का ग्रहण नहीं होता। अथवा –अवयवों के परस्पर पृथक् होजाने पर अवयवी का ग्रहण नहीं होता।

कार्य-द्रव्य सदा कारण-द्रव्यों में आत्मलाभ करता, एवं वहीं आश्रित रहता है। जिन द्रव्यों में परस्पर उपादानोपादेयभाव-सम्बन्ध रहता है, वहाँ उपादेय (कार्य) द्रव्य उपादान (कारण) द्रव्यों को छोड़कर नहीं रहता; न तब उसका ग्रहण होना सम्भव है। विशिष्टसंयोगपूर्वक परस्पर सन्निहित हुए अवयवों में ही अवयवी आत्मलाभ करता व गृहीत होता है। ऐसी दशा में जब अवयव परस्पर विश्लिष्ट करदियेजाते हैं, तब अवयवी के उपलब्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता। विश्लेषण से अवयवों का परस्पर संयोगविशेष न रहने पर अवयवी रह कहाँजाता है? तब उपलब्ध कैसे होजायेगा? जब विशिष्टसंयोगपूर्वक अवयव परस्पर सन्निहित रहते हैं, तभी अवयवी उपलब्ध होता है; वह कारणों में आश्रित हुआ कारणों से अतिरिक्त सद्भाव के रूप में (अवयवीरूप में) गृहीत होता है। पट आदि बुद्धि का वही विषय है।

जहाँ द्रव्यों में परस्पर उपादानोपादेयभाव (कारणकार्यभाव) नहीं होता, वहाँ परस्पर आश्रिताश्रय होने पर आश्रितभाव गृहीत होता है, भले ही आश्रय न रहे। पात्र में रक्खे फल आश्रयभूत पात्र के न रहने पर भी गृहीत होते व विद्यमान रहते हैं। जब द्रव्यों में परस्पर कार्य-कारणभाव की स्थिति आवश्यकरूप से मान्य होती है, तब अवयवों में आश्रित, पर अवयवों से अतिरिक्त अवयवीरूप में पदार्थ की सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है। केवल परमाणुवाद की कल्पना में–अतीन्द्रिय परमाणुओं में जो वस्तुतत्त्व इन्द्रियद्वारा गृहीत होता है, उसके विषय में बुद्धिपूर्वक विवेचन करने से यह स्पष्ट होजाता है कि वह इन्द्रियग्राह्य पदार्थ अतीन्द्रिय परमाणुओं से भिन्न है। एक ही पदार्थ अतीन्द्रिय और इन्द्रिय-ग्राह्य दोनों रूप नहीं होसकता। अतः इन्द्रियग्राह्य द्रव्य पदार्थ को अतीन्द्रिय परमाणुओं से भिन्न मानना सर्वथा प्रामाणिक है। वही द्रव्य अवयवी है॥ २८॥

अर्थज्ञान अवयवी का साधक—अवयवीरूप में पदार्थों का सद्भाव है, इस विषय में सूत्रकार ने हेतु प्रस्तुत किया—

प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः॥ २९॥ (४४१)

[प्रमाणतः] प्रमाण से [च] तथा [अर्थप्रतिपत्तेः] पदार्थ की सिद्धि होने के कारण।

कौन पदार्थ कैसा है? किस प्रकार से है, किस कारण से ऐसा है? अथवा कौन पदार्थ नहीं है, और किस कारण से नहीं है?–यह सब प्रमाण के अनुसार बुद्धिपूर्वक विवेचन करके निश्चय कियाजाता है। प्रमाणों के आधार पर पदार्थों की उपलब्धि होना बुद्धि द्वारा अथवा बुद्धिपूर्वक उनका विवेचन करना है।

प्रमाणपूर्वक बुद्धि द्वारा कियेगये विवेचन से समस्त शास्त्र, सब अनुष्ठान तथा शरीरधारियों के सब व्यवहार व्याप्त हैं; इसप्रकार के विवेचन के अधीन हैं। वस्तु की यथार्थता की परीक्षा करनेवाला व्यक्ति प्रमाणों के सहारे बुद्धिपूर्वक विवेचन करने पर यह निश्चय करलेता है–कौन वस्तु यथार्थ है, कौन नहीं। ऐसी स्थिति में सब भावों को मिथ्या अथवा अप्रामाणिक नहीं कहाजासकता ॥ २९ ॥

वस्तुमात्र अभाव नहीं— यदि प्रमाणों के अनुसार वस्तुस्थिति को स्वीकार नहीं कियाजाता, तो वस्तुमात्र का अभाव में पर्यवसान कहना, अथवा सबको मिथ्या बताना भी सिद्ध नहीं कियाजासकता। इसीको सूत्रकार ने बताया—

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ३० ॥ (४४२)

[प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्] प्रमाण की अनुपपत्ति तथा उपपत्ति से (वस्तु का अस्तित्व सिद्ध होजाने पर–सबका अभाव में पर्यवसान–कहना असंगत है)।

यदि वस्तुमात्र के अभाव की सिद्धि में प्रमाण प्रस्तुत कियाजाता है, तो प्रमाण का अस्तित्व स्वीकार कियेजाने से–वस्तुमात्र का अभाव है–कहना अनुपपन्न होजाता है। यदि वस्तुमात्र के अभाव में कोई प्रमाण नहीं है, तो प्रमाणाभाव से उसके असिद्ध होनेपर वस्तुमात्र का अस्तित्व सिद्ध होजाता है। यदि प्रमाण के विना वस्तुमात्र के अभाव को स्वीकार कियाजाता है, तो वस्तुमात्र के अस्तित्व को स्वीकार क्यों न कियाजाय ? फलतः वस्तुमात्र का अभाव कहना सर्वथा अप्रामाणिक एवं अनुपपन्न है ॥ ३० ॥

वस्तुसत्ता-ज्ञान भ्रान्त— शिष्य जिज्ञासा करता है–प्रमाण से पदार्थ का अस्तित्व भले प्रतीत हो, पर सम्भव है–यह वास्तविक अस्तित्व न हो। जैसे स्वप्न में पदार्थ प्रतीत होते हैं, पर वस्तुतः उनका अस्तित्व नहीं रहता। शिष्य-भावना को आचार्य ने सूत्रित किया—

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः ॥ ३१ ॥ (४४३)

[स्वप्नविषयाभिमानवत्] स्वप्न में विषयों-पदार्थों के अभिमान-मिथ्याज्ञान के समान [अयम्] यह [प्रमाण-प्रमेयाभिमानः] प्रमाण-प्रमेय - विषयक मिथ्याज्ञान है।

स्वप्न में नदी-नाले, पर्वत-नगर आदि विषयों का अस्तित्व नहीं रहता; न होने पर भी ज्ञान होता है; और उस दशा में उनका अस्तित्व वास्तविक-जैसा लगता है। उसीके समान साधारण जगत्-व्यवहार में–यह प्रमाण है, यह प्रमेय है–इत्यादि ज्ञान का होना भी मिथ्या है। जब प्रमेय–ज्ञान का विषय ही नहीं, तो उसके प्रमाण–ज्ञानसाधन का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए प्रमाण की उपपत्ति-अनुपपत्ति से वस्तु के सद्भाव को सिद्ध करने का प्रयास युक्त प्रतीत नहीं होता ॥ ३१ ॥

स्वप्न-दृष्टान्त की पुष्टि में जागृत दशा की कतिपय परिस्थितियों का आचार्य ने निर्देश किया—

मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ।। ३३ ।। (४४४)

[मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावत्] माया, गन्धर्वनगर और मृगतृष्णा के समान [वा] अथवा।

न केवल स्वप्न में ऐसा होता है कि विषय न रहता हो; प्रत्युत जाग्रत दशा में भी अनेक प्रसंग ऐसे आते हैं, जहाँ विषय का अस्तित्व नहीं रहता, परन्तु प्रतीति होती है। माया इन्द्रजाल का नाम है। जब ऐन्द्रजालिक–मायावी अनेक प्रकार की वस्तुओं का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करता है, तब दर्शकगण की दृष्टि से उन वस्तुओं का वहाँ वास्तविक अस्तित्व नहीं रहता। वस्तु के न रहते भी उसकी प्रतीति होना मायारूप है, मिथ्या है।

कभी-कभी ऊपर अन्तरिक्ष की ओर देखने पर नगर-जैसा दृश्य प्रतीत होता है। मकान, सड़कें, बाज़ार, यातायात आदि सब चिह्न नगर-जैसे प्रतीत होते हैं। पर वहाँ किसी प्रकार नगर का अस्तित्व उपपन्न नहीं; न ऐसा होना सम्भव है। इसप्रकार प्रतीयमान नगर को 'गन्धर्वनगर' कहाजाता है। ऐसी प्रतीति मिथ्याज्ञान है।

मौसम गरम है, रेतीले मैदान दूर तक फैले हैं। पानी का कहीं आस-पास नाम नहीं। हरिणों का प्यासा झुण्ड पानी की तलाश में चलता है। सामने क्षितिज तक फैला दिखाई देता रेतीला मैदान लहराते सागर-जैसा दृश्य उपस्थित करता है। पानी की एक बूंद नहीं, तब लहराते समुद्र का दीखना मिथ्या कहाजायगा। इसीप्रकार जगत् की प्रतीति, एवं प्रमाण-प्रमेय आदि का व्यवहार सब मिथ्या है। स्वप्न एवं जाग्रत दोनों दशा इस परिस्थिति की वास्तविकता को स्पष्ट करती हैं। फलतः वस्तुमात्र का अस्तित्व सन्दिग्ध होजाता है ।। ३२ ।।

वस्तुसत्ता यथार्थ है—आचार्य सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

हेत्वभावादसिद्धिः ।। ३३ ।। (४४५)

[हेत्वभावात्] हेतु के न होने से [असिद्धिः] सिद्धि नहीं होती (वस्तुमात्र के अभाव की)।

स्वप्न में विषयों की प्रतीति के समान यदि प्रमाण-प्रमेय व्यवहार मिथ्या कहाजाता है, तो जागरित अवस्था में विद्यमान विषयों की सत्य उपलब्धि के समान प्रमाण-प्रमेय व्यवहार को सत्य न मानाजाय,–इसमें कोई हेतु नहीं है। जागरित दशा में वस्तु की प्रत्यक्ष उपलब्धि होने से वस्तुमात्र का अभाव स्वीकार नहीं किया जासकता।

यह भी नहीं कहाजासकता कि स्वप्न में प्रतीयमान पदार्थों का सर्वथा अस्तित्व नहीं है। जागृत दशा में जिन पदार्थों का अनुभव व्यक्ति को होता है, स्वप्न में तीव्र स्मृति के कारण वे ही पदार्थ उभर आते हैं। तात्पर्य है–जागृत दशा के अनुभव से जो संस्कार आत्मा में बैठजाते हैं, स्वप्न में मनःसहयोग से तीव्र संस्कार उन पदार्थों की स्मृति कराने में समर्थ होजाते हैं। ऐसी स्थिति में स्वप्न के प्रतीयमान पदार्थों को नितान्त मिथ्या नहीं कहाजासकता।

शंका होसकती है–जागने पर क्योंकि स्वप्न के पदार्थ उपलब्ध नहीं होते, इसलिये उनके मिथ्या होने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। यदि वे सत्य होते, तो जागने पर भी उपलब्ध हुआ करते, जैसे जाग्रत दशा में अन्य सत् पदार्थ उपलब्ध होते हैं।

यह शंका ठीक नहीं। शंका करते हुए शंकावादी इसका समाधान भी स्वयं करगया, यह कहकर, कि–जागृत दशा में जैसे अन्य सत् पदार्थ उपलब्ध होते हैं। इसका तात्पर्य है–जाग्रत दशा में उपलब्ध पदार्थों को वह सद्रूप स्वीकार करता है।

इसके अतिरिक्त–जागने पर स्वप्न विषय की अनुपलब्धि कहने से यह स्पष्ट होता है कि अनुपलब्धि का होना–विषय की उपलब्धि पर आधारित रहता है। एक विद्यमान ज्ञात विषय की देशान्तर-कालान्तर में अविद्यमानता को अनुपलब्धि प्रकट करती है। इसप्रकार विषय की अनुपलब्धि का होना, उसकी पूर्वकालिक उपलब्धि व विद्यमानता को सिद्ध करता है। इसप्रकार 'प्रतिबोधेऽनुपलम्भात्' (-जागने पर स्वाप्न विषय के अनुपलम्भ से) हेतु अभाव को सिद्ध करने के विपरीत, वस्तु की विद्यमानता को सिद्ध करने में सफल दिखाई देता है। किसी वस्तु का अभाव तभी कहाजाता है, जब वह उपलब्ध न होरही हो। अभाव की प्रतीति से पूर्व उसकी विद्यमानता निश्चित होती है।

यदि स्वप्न और जाग्रत दोनों अवस्थाओं में वस्तु का अभाव है, तो अनुपलम्भ का सामर्थ्य ही नष्ट होजाता है। क्योंकि अनुपलम्भ पूर्व-उपलब्ध वस्तु का सम्भव है। जब दोनों अवस्थाओं में वस्तु का अभाव मानाजाता है, तब अनुपलम्भ का आधार (प्रतियोगी) न रहने से उसका अस्तित्व निष्फल होजाता है। अथवा जाग्रत दशा में वस्तु के सत्त्व (सामान्य वस्तु प्रत्यक्ष में) और असत्त्व (माया, मृगतृष्णिका आदि में) दोनों प्रकार की प्रतीति से वस्तु-तत्त्व के सर्वात्मना अनुपलम्भ का कथन निरर्थक होजाता है; क्योंकि तब भी वस्तु के सद्भाव का प्रत्यक्ष अनुभव प्रबल रहता है, अनुपलम्भ पूर्वानुभूत वस्तुसत्तापेक्ष होने से नितान्त दुर्बल।

स्वप्नगत विषयों की तुलना जाग्रत में अनुभूत विषयों के साथ करना सर्वथा अप्रामाणिक है। स्वप्न में विषय की प्रतीति का निमित्त केवल तीव्र

संस्कार है, जिससे उन-उन विषयों की स्मृति व्युत्क्रमरूप में तब उभर आती है। परन्तु जाग्रत दशा में वह स्मृति न होकर अपने विभिन्न निमित्तों के अनुसार अनुभव का रूप होता है। स्वप्न और जाग्रत के भेद को स्पष्टरूप में इसप्रकार समझ लेना चाहिए-स्वप्नदर्शी का स्वप्न में किसी से संघर्ष होजाने पर यदि विरोधी की तलवार उसकी गर्दन पर पड़ती है-तो गर्दन का कटना तो अलग रहा, उसमें खुरच भी नहीं आती। पर जाग्रत में किसीकी गर्दन पर तलवार का प्रहार होने पर जो परिणाम होता है, उसे प्रत्येक विचारशील व्यक्ति जानता है। जो स्वप्न-जागरित को समान समझकर स्वप्नगत विषयों के अभाव की तुलना में जागरित विषयों को भी उसीप्रकार अभावरूप समझता है, वह अपनी गर्दन पर तलवार का प्रहार करवाकर देखले, पता लगजायगा, वस्तु का भाव है, या अभाव।

प्रकाश के न होने पर रूप दिखाई नहीं देता; इसका तात्पर्य है-रूप का प्रत्यक्ष-अनुभव प्रकाश की विद्यमानता में होता है। इसीप्रकार जागरित दशा में वस्तु की उपलब्धि से उसका सत्त्व, तथा स्वप्नगत विषय की अनुपलब्धि से उसका असत्त्व सिद्ध होता है। फलतः यह निश्चित है-अभाव की सिद्धि-प्रथम भाव की सिद्धि को स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं।

यह कहागया-स्वप्न में विषय की प्रतीति स्मृतिमात्र है, उसका निमित्त तीव्र संस्कार आदि रहता है। इसीकारण स्वप्नों में विविध प्रकार का विकल्प देखाजाता है। कोई स्वप्न भयावह, कोई प्रमोद एवं रमणीयता से मिश्रित रहता है। किन्हीं में ये दोनों नहीं रहते। कभी स्वप्न ही दिखाई नहीं देता। यह सब स्थिति विशेष निमित्त के बिना नहीं होसकती। संस्कार के अतिरिक्त अन्य कोई निमित्त वहाँ कल्पना नहीं कियाजासकता। संस्कार अनुभवजन्य होता है। वह केवल जागरित दशा में सम्भव है। यह दशा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है, जबकि स्वप्न नहीं। स्वप्न-दशा की परिस्थितियाँ जागरित पर निर्भर करती हैं। इसलिए स्वप्नगत प्रतीति के समान जागरित का प्रमाण-प्रमेय व्यवहार मिथ्या है (स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः, ३१), यह कथन सर्वथा असंगत है॥ ३३॥

स्वप्न का आधार जागरित—स्वप्न स्मृतिमात्र है, वह जागरित अनुभवों पर निर्भर करता है; वह उलटे जागरित पदार्थों के अभाव का साधक नहीं होसकता। आचार्य सूत्रकार ने इस वास्तविकता को बताया—

स्मृतिसंकल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः॥ ३४॥ (४४६)

[स्मृतिसंकल्पवत्] स्मृति और संकल्प के समान [च] तथा [स्वप्न-विषयाभिमानः] स्वप्न में विषय का ज्ञान होता है।

स्मृति और संकल्प दोनों पहले अनुभव किये पदार्थ के विषय में होते हैं। इसीप्रकार स्वप्न पूर्व-अनुभूतविषयक होता है। पहले अनुभव कियागया वह पदार्थ असत् नहीं होता। इसलिए स्वप्नविषयक प्रतीति को असद्विषयक नहीं कहाजासकता। स्वप्न-प्रतीति जागरित-अनुभव पर आधारित रहती है। वह अपने आधार का विनाश करे, यह सम्भव नहीं। उस दशा में वह अपने नाश के लिए सिद्ध होगी।

स्वप्नदर्शी व्यक्ति जब जागजाता है, वह स्वप्न में देखे पदार्थों का प्रति-संधान करता है, उसे याद करता है—मैंने यह पदार्थ देखा। जागने पर वह उस पदार्थ को स्वरूप से न पाकर उस प्रतीति को मिथ्या कहता है। उसका मिथ्या समझाजाना जागजाने पर होनेवाली बुद्धिवृत्ति के कारण है। यदि ये दोनों (स्वप्न-जागरितप्रतीति) समान हों, तब एक को साधन बनाना निरर्थक होगा। वह स्वप्न-प्रतीति अपने मूल जाग्रद्विषयक प्रतीति की बाधा करेगी। तब किसकी तुलना से उसके मिथ्यात्व का उपपादन होगा?

जो पदार्थ जैसा नहीं है, उसको वैसा समझलेना मिथ्या कहाजाता है। तात्पर्य है--मिथ्या की कसौटी सत्य है। किसी को मिथ्या--सत्य के मुकाबले में ही—कहा या समझाजासकता है। अपुरुष स्थाणु में पुरुष-ज्ञान को मिथ्या तभी कहाजासकता है, जब पुरुष में पुरुष-ज्ञान को सत्य मानाजाय। स्वप्न में देखे हाथी या पर्वत को मिथ्या तभी कहाजासकता है, जब जागरित में देखे हाथी व पर्वत को सत्य स्वीकार कियाजाता है। यह विषय की प्रतीति प्रधान है, स्वप्न-प्रतीति गौण हैं; क्योंकि वह पहले के आश्रित है; तथा उसके वास्तविक स्वरूप मिथ्यात्व की जानकारी भी प्रधान के भरोसे पर रहती है। इस सबके फलस्वरूप वस्तुमात्र को मिथ्या बताना सर्वथा असंगत है ॥ ३४ ॥

मिथ्याज्ञान यथार्थ पर आश्रित—वस्तुविषयक मिथ्याज्ञान वस्तु के यथार्थ-ज्ञान पर निर्भर रहता है। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानात् स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत् प्रतिबोधे ॥ ३५ ॥ (४४७)

[मिथ्योपलब्धिविनाशः] मिथ्या उपलब्धि-ज्ञान का विनाश होजाता है [तत्त्वज्ञानात्] तत्त्वज्ञान—यथार्थज्ञान से [स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्] जैसे स्वप्न में विषय की उपलब्धि—ज्ञान का नाश होजाता है [प्रतिबोधे] जागजाने पर।

ऊपर से कटे हुए पेड़ के ठूंठ-जैसे तने में फुट-पुटा होनेपर (प्रकाश की न्यूनता होने पर) दूर से व्यक्ति को 'यह पुरुष है' ऐसा ज्ञान होजाता है। इस ज्ञान में भय, आशङ्का आदि आन्तर कारण तथा प्रकाश की न्यूनता तथा दृष्टि की

दुर्बलता आदि बाह्य कारण होते हैं। इसप्रकार स्थाणु (ठूँठ) में पुरुष का ज्ञान मिथ्या-उपलब्धि है, मिथ्याज्ञान है। स्थाणु में-'यह स्थाणु है' इसप्रकार का ज्ञान तत्त्वज्ञान है। किसी विषय के तत्त्वज्ञान से उस विषय के मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होजाती है। पर विषय की निवृत्ति नहीं होती। ज्ञान की दोनों दशाओं [मिथ्या-यथार्थ] में विषय की स्थिति एक-समान बनी रहती है। स्थाणु अपनी जगह स्थाणु रहता है; पुरुष अपनी जगह पुरुष। केवल बुद्धि-वृत्ति अथवा ज्ञान बदलता है। मिथ्या की जगह यथार्थ होजाता है। विषय दोनों दशाओं में स्वरूप से विद्यमान रहता है। इसलिए मिथ्याज्ञान में वस्तु का अभाव कहना असंगत है।

ठीक इसी प्रकार स्वप्न में होनेवाली प्रतीति का जागनेपर होनेवाले ज्ञान से नाश होजाता है। स्वप्न में दीखनेवाले–पर्वत, नदी, जंगल, नगर, हाथी, घोड़े, सवारी, सड़क, साथी, अनेक व्यक्ति–आदि पदार्थों का स्वप्नदर्शी व्यक्ति के जाग-जाने पर विनाश नहीं होता। वे सब अपनी-अपनी जगह, स्वप्न–जागरण दोनों अवस्थाओं में विद्यमान रहते हैं। जाग्रत-दशा में जब व्यक्ति पर्वत, नदी आदि का चिन्तन करता है, तब ये पदार्थ चिन्तन करनेवाले व्यक्ति के समीप नहीं आते, न व्यक्ति उनके समीप जाता है। जाग्रत-दशा में व्यक्ति इस यथार्थ स्थिति को जानता है। स्वप्न के ज्ञान में यही मिथ्यात्व है कि स्वप्नदर्शी अपने-आपको इन पदार्थों के साथ पाता है। इसमें निद्रा-दोष निमित्त होता है। जाग्रत का चिन्तन और स्वप्न का यह ज्ञान दोनों स्मृतिरूप हैं; पर स्वप्न में पदार्थों का सामीप्य स्मृतिरूप में न भासकर अनुभवरूप में भास रहा होता है। निद्रा-दोष से स्मृत्यंश लुप्त होजाता है। यह उस ज्ञान का मिथ्यात्व है। जागने पर यथार्थता का बोध होने से स्वप्नगत मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होजाती है। उस ज्ञान का विषय–वस्तुतत्त्व जहाँ-का-तहाँ बनारहता है।

मिथ्याज्ञान की यही स्थिति माया, गन्धर्वनगर, मृगतृष्णिका आदि में समझनी चाहिए। इन सब प्रसंगों में होनेवाला ज्ञान-'अतस्मिंस्तत्' है–जो जैसा नहीं है, उसमें वैसा ज्ञान होजाना। यहाँ भी उस मिथ्याज्ञान–विपरीतज्ञान का प्रतिषेध होता है, वस्तुतत्त्व का नहीं। माया आदि स्थलों में मिथ्याज्ञान के स्वरूप को इसप्रकार समझना चाहिए—

माया—जब मायावी, ऐन्द्रजालिक जिस किसी वस्तु का प्रदर्शन करना चाहता है, उसका आधार या निमित्त कोई अवश्य रहता है। उस प्रदर्शन का आधार या निमित्त अभावमात्र नहीं होसकता। जैसे–मान लीजिये, वह सर्प का प्रदर्शन करना चाहता है; वह उसीके सदृश कोई लकड़ी अथवा लचीली सामग्री से बना कोई वैसा द्रव्य लेकर सर्प का प्रदर्शन करता है। दर्शकों को यह निश्चय कराता है–प्रदर्शन में सर्प दिखायागया है। वस्तुतः वह सर्प नहीं होता। दर्शकों के इस मिथ्याज्ञान का आधार व निमित्त–वस्तुभूत सर्प का प्रथमज्ञान तथा उस

समय प्रदर्शित सर्प-सदृश–वह द्रव्य है । दर्शकों को मिथ्याज्ञान कराना ऐन्द्रजालिक का लक्ष्य है । पर वह स्वयं उस मिथ्याज्ञान से अभिभूत नहीं होता, उसे वस्तु-तत्त्व का यथार्थज्ञान रहता है । इसीका नाम माया है । यहाँ प्रदर्शित वस्तु का उभार अभाव से न होकर किसी वस्तु-तत्त्व से होता है । इसलिए वस्तुमात्र का अभाव में पर्यवसान कहना असंगत है ।

गन्धर्वनगर—जब भूमि के समीप का अन्तरिक्ष कोहरा आदि से भरा रहता है, अथवा मरु-भूमि में तीव्र वायुवेग से धूलिकण उड़कर सूक्ष्म बालू के अंश अन्तरिक्ष में उड़ते रहजाते हैं; तब सूर्य-किरणों से प्रकाशित भूस्थित नगर–समीप के कोहरा अथवा बालु-अंश से पूरित अन्तरिक्ष में प्रतिबिम्बित होउठता है । नगर के ऐसे प्रतिबिम्ब को साहित्यिक भाषा में 'गन्धर्वनगर' कहाजाता है । यह स्थिति अभावमात्र से नहीं उभरती । स्थिति को जन्म देनेवाले निमित्त उक्त विवरण से स्पष्ट हैं । जब ऐसी स्थिति नहीं होती, तब 'गन्धर्वनगर' जैसी कोई चीज़ दिखाई नहीं देती ।

मृगतृष्णिका—रेतीले मैदानों में भरी दुपहरी के समय सूरज की तीखी किरणों से बालू के कण चमक उठते हैं । उस समय वायु की मन्दगति से भूमि के ऊपर लगते हुए प्रदेश में प्रकाश की लहर-सी चलती हुई दूर से प्रतीत होती है । दूरस्थित व्यक्ति बालुकण और ऊष्मा की संसृष्टि से उभरती हुई स्थिति में बालु-आतप तथा जल के समान गुण शुक्लरूप एवं लहरों को दृष्टिगत करपाता है, विशेष धर्म को नहीं । समीप जाने पर बालू एवं आतप की विशेष स्थिति का ज्ञान होजाने पर पहला जल-विषयक मिथ्याज्ञान प्रतिषिद्ध होजाता है । ज्ञान के निमित्तभूत वस्तुतत्त्व की स्थिति, स्वरूप में बिना किसी विपर्यय के बराबर उसीप्रकार बनी रहती है ।

ऐसे भ्रम का शिकार रेतीले मैदानों में मृग प्रायः होजाता है । वह दूर से आगे जल-धाराओं को लहराते देखता है; प्यास से तड़पता हुआ उस ओर दौड़ता है, पर समीप जाकर रेत के सिवाय कुछ नहीं पाता । आगे मुँह उठाकर देखने पर वही लहराती जलधारा जैसा दृश्य । प्यासा मृग उसी लालसा में दौड़ता-दौड़ता दम तोड़ बैठता है । इसीकारण विचारशील व्यक्तियों ने इस स्थिति को 'मृगतृष्णिका' नाम दिया है ।

भरी गरमी के बैसाख-जेठ महीनों के दिनों में दूर तक जोतकर डाले हुए नंगे खेतों का मैदान भी इस दृश्य को उभार देता है । कोई भी व्यक्ति ऐसे मैदान के एक ओर बैठा हुआ उन लहरों का साक्षात्कार करसकता है । स्पष्ट है, यह स्थिति अभावमात्र से नहीं उभरती । इसके निमित्त–साधन स्थिति के विवरण से सर्वजनविदित हैं । ऐसी स्थिति के आधार पर मिथ्याज्ञान कहीं किसी काल में किसी व्यक्ति को होता है, सर्वत्र सबको नहीं । यह व्यवस्था उक्त

स्थिति के नैमित्तिक होने को प्रमाणित करती है। जो इस तथ्य का साधन है कि यह स्थिति अभावमात्र से नहीं उभर सकती। अन्यथा अभाव के सर्वत्र समान होने से सबको सर्वत्र ऐसी प्रतीति होती रहाकरती।

ज्ञान का द्वैविध्य प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव में आता है-यथार्थज्ञान और मिथ्याज्ञान। जब ऐन्द्रजालिक माया का प्रदर्शन करता है, तब उसे वस्तु का यथार्थ-ज्ञान रहता है। साँप की जगह जिस द्रव्य को वह दिखला रहा है, उसे अच्छी तरह जानता है। परन्तु दर्शकगण यही समझता है कि उसने साँप दिखाया है; उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है। इसीप्रकार दूरस्थित व्यक्ति को अन्तरिक्ष में गन्धर्व-नगर तथा सामने रेतीले मैदान में लहराता जल दिखाई देता है; यह मिथ्या-ज्ञान है। जो व्यक्ति उस प्रदेश के समीप स्थित है, उसे गन्धर्वनगर आदि दिखाई न देकर जो वस्तु जैसी है, वैसी दिखाई देती है; उसका ज्ञान यथार्थज्ञान है। ठीक ऐसे ही स्वप्न की प्रतीति मिथ्या, तथा जागने पर उसके विषय का ज्ञान यथार्थ है। ज्ञान की यह सब स्थिति–वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार न कर–अभावमात्र तत्त्व मानने पर सम्भव नहीं होसकती ॥ ३५ ॥

मिथ्याज्ञान का अस्तित्व—पदार्थ के सद्भाव का उपपादन कर आचार्य सूत्रकार ने मिथ्याज्ञान के सद्भाव को सिद्ध करने के लिए कहा—

बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् ॥ ३६ ॥ (४४८)

[बुद्धेः] बुद्धि-ज्ञान–मिथ्याज्ञान का [च] भी [एवम्] इसप्रकार (–वस्तुसद्भाव के समान–सद्भाव है।) [निमित्तसद्भावोपलम्भात्] निमित्त-कारण तथा सद्भाव (मिथ्याबुद्धि के) की उपलब्धि होने से।

जैसे वस्तु के सद्भाव का प्रतिषेध नहीं कियाजासकता, ऐसे ही मिथ्या-बुद्धि का प्रतिषेध अशक्य है। क्योंकि मिथ्याबुद्धि के कारण भी उपलब्ध होते हैं, और यथावसर प्रत्येक व्यक्ति उसका ग्रहण करता है। जिस कार्य के निमित्त उपलब्ध हों, और वह कार्य संवेद्य हो, ग्रहण कियाजाता हो; ऐसे कार्य के अस्तित्व से नकार नहीं कियाजासकता। मिथ्याज्ञान भी ऐसा कार्य है। उसका सद्भाव प्रामाणिक है ॥ ३६ ॥

मिथ्याज्ञान के प्रकार—आचार्य सूत्रकार ने मिथ्याज्ञान के द्विविध निमित्त का निर्देश किया—

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ॥ ३७ ॥ (४४९)

[तत्त्वप्रधानभेदात्] तत्त्व एवं प्रधान के भिन्न होने से [च] तथा [मिथ्याबुद्धेः] मिथ्याज्ञान–निमित्त का [द्वैविध्योपपत्तिः] द्विविध होना निश्चित है।

स्थाणु में पुरुष का ज्ञान होना मिथ्याज्ञान है। स्थाणु और पुरुष दोनों के बिना इसका होना सम्भव नहीं। इस मिथ्याज्ञान में ये दोनों अपेक्षित हैं, दोनों निमित्त हैं। यहाँ स्थाणु 'तत्त्व' है, उसका सद्भाव यथार्थ है। पुरुष यहाँ 'प्रधान' है, क्योंकि प्रतीति में उसीका आभास होरहा है। इन दोनों का परस्पर भेद है, इसीकारण स्थाणु में पुरुष का ज्ञान मिथ्याज्ञान है। यदि इनमें भेद न होता, तो यह ज्ञान मिथ्याज्ञान न कहलाता। इन दोनों के सामान्य धर्मों का ग्रहण होने तथा विशेषधर्मों का ग्रहण न होने से यह ज्ञान उभरता है। तात्पर्य है—जहाँ दो भिन्न पदार्थों के केवल समानधर्म का ग्रहण होता है, वहीं ऐसा ज्ञान उभार में आता है। रज्जु में सर्प का ज्ञान, ध्वजा या पताका में बगुले का ज्ञान, ढेले में कबूतर का ज्ञान ऐसा ही मिथ्याज्ञान है। रस्सी में भैंस का ज्ञान कभी नहीं होता; क्योंकि वहाँ बाह्य आकार में किसीप्रकार के समान धर्म की सम्भावना नहीं। ऐसे मिथ्याज्ञान के लिए दो भिन्न पदार्थों के समानधर्म का ज्ञान होना व्यवस्थित है। जो वादी वस्तुतत्त्व को स्वीकार न कर केवल अभाव के अस्तित्व को मानता है, ऐसी स्थिति में वस्तुभेद न रहने से कहीं भी मिथ्याज्ञान का होना सम्भव न होगा।

यदि फिर भी आग्रहवश मिथ्याज्ञान का होना स्वीकार कियाजाता है, तो गन्ध आदि विषयों में गन्धज्ञान आदि होना मिथ्याज्ञान होना चाहिए, जो वस्तुतः तत्त्वज्ञान है। क्योंकि इनमें 'तत्त्व' और 'प्रधान' के सामान्य धर्म का ग्रहण नहीं होता। अन्यथा जगत्-व्यवहार का ही विलोप होजायगा, जो किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं। फलतः मिथ्याज्ञान अनुभवसिद्ध है, और उसका निमित्त है—दो भिन्न पदार्थों के समानधर्म का ज्ञान। इसप्रकार मिथ्याज्ञान का अस्तित्व वस्तुतत्त्व की सिद्धि में प्रयोजक होता है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि प्रमाण-प्रमेय का ज्ञान मिथ्या है, सर्वथा असंगत है॥ ३७॥

तत्त्वज्ञान के साधन—प्रमेय सूत्र [१।१।६] में पठित प्रमेयों में आदि के आत्मा और अन्त के अपवर्ग को छोड़कर शेष शरीरादि दुःखान्त प्रमेय दोषों के निमित्त हैं। दोषों की निवृत्ति के लिए—प्रस्तुत प्रसङ्ग के प्रारम्भ [४।२।१] में—तत्त्वज्ञान का निर्देश किया। शिष्य जिज्ञासा करता है—वह तत्त्वज्ञान उत्पन्न कैसे होता है? आचार्य ने बताया—

समाधिविशेषाभ्यासात् ॥३८॥ (४५०)

[समाधिविशेषाभ्यासात्] समाधिविशेष के अभ्यास से, अथवा समाधि के लिए विशेष अभ्यास से (समाधिदशा प्राप्त होजाने पर तत्त्वज्ञान उत्पन्न होजाता है)।

बाह्य विषयों से सुविचारपूर्वक इन्द्रियों को हटाकर, तथा मन की वृत्तियों

का प्रयत्न एवं अभ्यासपूर्वक निरोध करके उसे आत्मा के साथ जोड़लेना समाधि का स्वरूप है। इन्द्रियाँ स्वभावतः बाह्य विषयों की ओर आकृष्ट रहती हैं। गुरु एवं शास्त्र आदि के उपदेश तथा प्राक्तन संसार आदि निमित्तों से जब व्यक्ति की तत्त्वजिज्ञासा उत्कटरूप में उभरती है, तो वह बाह्य विषयों की ओर से विरक्त-सा होजाता है। इन्द्रियों की प्रवृत्ति उस ओर शिथिल होजाती है। तब मानसवृत्तियाँ बाहर की ओर का चिन्तन न कर आत्मतत्त्व के चिन्तन में अग्रसर होने लगती हैं। अष्टांग योग, गायत्री व प्रणव का जप तथा अन्य शास्त्रीय उपायों के निरन्तर अभ्यास से समाधि-दशा प्राप्त होजाती है। तब इन्द्रियाँ बाह्य विषयों में ज्ञानोत्पत्ति का साधन नहीं बनतीं। यह स्थिति तत्त्वज्ञान को प्रकाशित करने में समर्थ होती है।

पातञ्जल योगदर्शन, उपनिषत् एवं अध्यात्मविषयक वाङ्मय में इस अवस्था (समाधिदशा) को प्राप्त करने के लिए विविध उपायों व साधनों का उल्लेख साक्षात्कृतधर्मा आचार्यों ने किया है। उन उपायों के अनुष्ठान से समाधि-लाभ निर्बाध होजाता है। यही तत्त्वज्ञान की स्थिति है ॥ ३८ ॥

विषय-प्राबल्य समाधि में बाधक—विषयों की ओर इन्द्रियों के प्रबल आकर्षण का विचार करते हुए शिष्य आशंका करता है। आचार्य ने शंका को सूत्रित किया—

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ ३९ ॥ (४५१)

[न] नहीं (युक्त प्रतीत होता उक्त कथन) [अर्थविशेषप्राबल्यात्] अर्थ-विशेष—गन्ध आदि विषयों के अति प्रबल होने के कारण।

समाधि-दशा प्राप्त होजाने पर इन्द्रिय-अर्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, यह कथन युक्त नहीं है। इच्छा न होते हुए भी—विषय इतने प्रबल होते हैं कि इन्द्रियों के सामने आने पर—इन्द्रियाँ मनसहित बलपूर्वक उधर खिच-जाती हैं। बड़े-बड़े योगी महात्मा इससे अभिभूत होजाते हैं। विश्वामित्र, पराशर आदि का इतिहास इसका साक्षी है। इसके अतिरिक्त साधारण अवस्था में योगी जब समाधिस्थित होता है, मेघ आदि की घोर गर्जना होने पर बलात् ध्वनि श्रोत्र-इन्द्रिय को प्रभावित करदेती है। यद्यपि योगी की अपनी इच्छा शब्द सुननेकी नहीं होती। ऐसी स्थिति में समाधिदशा का बने रहना सम्भव प्रतीत नहीं होता ॥ ३९ ॥

इसके अतिरिक्त भूख, प्यास आदि भी योगी को तंगकर समाधि-दशा को विघटित करदेती हैं। आचार्य ने इसे सूत्रित किया—

क्षुदादिभिः प्रवर्त्तनाच्च ॥ ४० ॥ (४५२)

[क्षुद्–आदिभिः] भूख-प्यास आदि के कारण [प्रवर्त्तनात्] प्रवृत्ति होजाने से (योगी की) [च] भी।

समाधि-अवस्था प्राप्त होजाने पर–जब तक देह विद्यमान रहता है–भूख-प्यास, गरम-सरद, रोग तथा अन्य देहसम्बन्धी आवश्यक कार्यों के लिए योगी को विषयों की ओर आकृष्ट होना पड़ता है। न चाहते हुए भी योगी को इसप्रकार के बाह्य ज्ञानों का होते रहना अनिवार्य है। तब निरन्तर एकाग्रता का होना सम्भव नहीं रहता। ऐसी दशा में यह कहना–कि समाधिलाभ होजाने पर इन्द्रिय-अर्थ के सन्निकर्ष से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती–असंगत है ॥ ४० ॥

संस्कार, समाधिलाभ में सहयोगी—आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥ ४१ ॥ (४५३)

[पूर्वकृतफलानुबन्धात्] पूर्व-जन्म में किये कर्मों से उत्पन्न संस्कारों के अनुरोध से [तद्–उत्पत्तिः] उस समाधि की सिद्धि इस जन्म में सम्भव है।

यह ठीक है, समाधि-दशा को विघटित करनेवाले अनेक निमित्त योगी के सन्मुख आते रहते हैं। कभी-कभी समाधि के विरोधी अनेक कारण समाधिलाभ में बाधक होजाते हैं। परन्तु अध्यात्म-मार्ग के यात्री प्रत्येक योगी के सन्मुख इस प्रकार की समान बाधक स्थिति आती हो, ऐसा नहीं है। अनेक व्यक्तियों के पूर्व-जन्म में किये शुभकर्मों के प्रबल संस्कार इस जन्म में समाधिसिद्धि के लिए सहयोगी होते हैं। ऐसा देखाजाता है, अनेक अभ्यासरत योगियों को निर्बाध-निर्विघ्न समाधिलाभ होजाता है। प्रत्यक्ष में यदि कोई विघ्न आते हैं, तो उनका विरोध–समाधि के अनुकूल प्रबल संस्कारों के कारण–अनायास होजाता है। विषयों की ओर से पूर्ण वैराग्य को प्राप्त होकर जब अध्यात्ममार्गी दृढ़ता के साथ अभ्यास में निरन्तर रत रहता है, तब उसकी इस क्षमता के सामने विघ्न-बाधा हवा होजाती हैं। यदि ऐसा न हो, तो आदरपूर्वक अभ्यास कौन करे?

साधारणरूप से लोकव्यवहार में यह बात देखीजाती है–यदि कोई व्यक्ति अपने कार्य में पूर्ण सफलता चाहता है, तो वह दृढ़ता से अपने कार्य के सम्पादन में निरन्तर लगा रहता है, उसका यह अभ्यास का नैरन्तर्य उसे पूर्ण सफलता के सिरे पर पहुँचा देता है; यह उत्तम जनों का लक्षण है। श्रेष्ठ पुरुष वही है, जो पूर्ण सफलता प्राप्त किये विना अपने प्रारब्ध-कार्य का परित्याग नहीं करता।

भूख-प्यास तथा रोग आदि की निवृत्ति एवं देहसम्बन्धी अन्य आवश्यक कार्यों का पूरा कियाजाना समाधिलाभ के लिए सहयोगी स्थितियाँ हैं। मानव-देह समाधिलाभ के लिए महान् साधन है। इसका स्वस्थ रहना समाधि में पूर्ण सहायक है। इसी स्थिति में भूख-प्यास आदि की निवृत्ति का समावेश होजाता है। मौसम का गरम-सरद होना अभ्यासी के लिए नगण्य है ॥ ४१ ॥

योगाभ्यास के अनुकूल स्थान—यदि अभ्यासी ऐसी परिस्थिति में है कि फिर भी कोई विघ्न बाधा उसके सामने आते हैं, तो आचार्य ने उसके लिए बताया—

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥ ४२ ॥ (४५४)

[अरण्यगुहापुलिनादिषु] अरण्य, गुहा, पुलिन आदि एकान्त स्थानों में (जाकर या रहकर) [योगाभ्यासोपदेशः] योग के अभ्यास करने का उपदेश (शास्त्र करता है)।

नगर, ग्राम तथा जन-संकुल स्थानों में–कुछ सुविधाओं के होते हुए भी–अभ्यास के लिए विघ्नबाधाओं की अधिक सम्भावना बनी रहती है।

नगर आदि स्थानों में रहता हुआ समाधि का अभिलाषी व्यक्ति अपने समीप के किसी जंगल, गुहा (इसी निमित्त से बनाया एकान्त स्थान) अथवा नदी-तट के पवित्र एकान्त प्रदेश में नियत समय के लिए जाकर योग-समाधि का अभ्यास करसकता है,-ऐसा उपदेश शास्त्रों ने दिया है।[1] यदि ऐसे स्थानों में अन्य अपेक्षित साधारण सुविधा प्राप्त हों, तो उन्हीं प्रदेशों में निवास करता हुआ योगाभ्यास करे। अभ्यास में ऐसी अनुकूलता से किसी सीमातक विघ्न-बाधाओं का परिहार होता रहता है।

इसप्रकार योगाभ्यास से योगी-आत्मा में जो धर्मविशेष, जो दृढ़ संस्कार उत्पन्न होजाते हैं, वे जन्म-जन्मान्तरों में अनुवृत्त होते रहते हैं। जन्मान्तर में फलोन्मुखता के लिए वे सबसे आगे बढ़कर आते हैं। साधारण कर्म-संस्कारों की सञ्चित राशि पीछे पड़ी रहती है। सञ्चित राशि का भुगतान भोग से अथवा आत्मज्ञान से होता है। दयालु न्यायकारी प्रभु इस तथ्य को जानता है–यह व्यक्ति उपयुक्त मार्ग पर चलपड़ा है। उसके लिए प्रभुद्वारा पूरा अवसर दियाजाता है। इसीकारण समाधि के अनुकूल संस्कार जन्मान्तर में फलप्राप्ति के लिए आगे बढ़ आते हैं। तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञान में सहयोगी ऐसे संस्कारों का जब प्राबल्य होजाता है, तब समाधि-भावना अपनी उत्कृष्ट अवस्था में पहुँच-जाती है। समाधिलाभ से तत्त्वज्ञान होजाने पर गन्ध आदि बाह्य विषयों की आकर्षणरूप प्रबलता शिथिल होजाती है। तत्त्वज्ञान का उद्रेक उसे सर्वात्मना दबा देता है। इन्द्रियों द्वारा विषयों का सम्पर्क होने पर भी वह युक्त (समाधि-प्राप्त) आत्मा को प्रभावित नहीं करता।

यह तो योगी की स्थिति है, जो बहुत ऊँची है। एक साधारण लौकिक जन भी जब अपने कार्य में सर्वात्मना संलग्न, लीन हुआ-जैसा रहता है, उस समय बाह्य इन्द्रियाँ विषयों से सन्निकृष्ट होती हुई भी उस कार्यरत व्यक्ति के

---

१. द्रष्टव्य–ऋग्वेद, ८। ६। २८ ॥ श्वेताश्वतर-उपनिषत्, २। १०॥

ध्यान को विघटित नहीं करपातीं। वह जब अपने कार्य से हटकर लोगों के साथ व्यवहार में आता है, तब उनके बताने पर राजा की सवारी इधर से निकल गई, अथवा बारात गाजे-बाजे के साथ चली गई—वह यही कहता है, वह सब बाजा आदि मैंने नहीं सुना, न अन्य कुछ जाना, मेरा मन दूसरे विषय में लगाहुआ था। जब साधारण लोकजन की यह स्थिति है, तब उस अभ्यासी योगी का क्या कहना, जिसका आत्मा स्वरूप में प्रतिष्ठित होचुका है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष उसके लिए कोई बाधा उपस्थित नहीं करते। ऐतिहासिक दृष्टान्त उनके अपुण्यों के परिणाम हैं ॥ ४२ ॥

विषयज्ञान मोक्ष में रहे—यदि युक्त योगी की इच्छा न होते हुए गन्धादि विषय-विशेषों की प्रबलता से ज्ञानादि उत्पत्ति का लगातार होते रहना स्वीकार कियाजाता है, तो सूत्रकार ने बताया—

अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ॥ ४३ ॥ (४५५)

[अपवर्गे] मोक्ष में [अपि] भी [एवम्] इसप्रकार का [प्रसङ्गः] अवसर प्राप्त होजाना चाहिये।

यदि योगी के न चाहने पर विषय बलपूर्वक योगी को आकृष्ट करसकते हों, और उससे प्रेरित बाह्यार्थविषयक ज्ञान योगी को होतेरहसकें, तो अपवर्ग दशा में भी बाह्य विषय अपने सामर्थ्य से मुक्त आत्मा को विषयज्ञान करादिया करें। तब उस दशा में राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति होकर उसका मोक्षभाव नष्ट होजाय। वह वर्त्तमान संसार के समान होजाय। पर ऐसा नहीं है, न होसकता है। इसलिए समाधि-अवस्था प्राप्त होजानेपर तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञान से विषयों का प्राबल्य अकिञ्चित्कर होजाता है। ये तभी तक अपनी क्षमता का प्रदर्शन करते हैं, जबतक मिथ्याज्ञान बना है। तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होजाने पर सब प्रकार के विषय चुपचाप जुआ डालकर एक ओर खड़े रह जाते हैं। तब आत्मा की चालू संसारयात्रा पूरी होजाती है।

विषयों के प्रबल होने पर भी अपवर्ग में ऐसा अवसर क्यों नहीं आता? आचार्य ने बताया—

न निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ॥ ४४ ॥ (४५६)

[न] नहीं (युक्त, मुक्ति में ज्ञान आदि की प्रसक्ति का कहना) [निष्पन्नावश्यम्भावित्वात्] कर्मानुसार उत्पन्न शरीर के अवश्यम्भावी निमित्त होने के कारण (बाह्यार्थ-विषयक ज्ञान आदि के प्रति)।

अपने कर्मों के अनुसार आत्मा को देह की प्राप्ति होती है। यह देह चेष्टा, इन्द्रिय और गन्ध आदि विषयों का आश्रय मानाजाता है। जब आत्मा देही रहता है, तभी आत्मा को बाह्यविषयक ज्ञान का होना सम्भव है। क्योंकि

ऐसे वैषयिक ज्ञान के होने में देह, इन्द्रिय आदि आवश्यक कारण हैं। देह के रहने पर बाह्यविषयक ज्ञान आदि का उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है। देह के रहते जब योगी को तत्त्वज्ञान होजाता है, तब भी इन्द्रिय के साथ मनोयोगपूर्वक अर्थ का सन्निकर्ष होने पर बाह्यज्ञान की उत्पत्ति को रोका नहीं जासकता। अपवर्ग में आत्मा के साथ देह-इन्द्रिय आदि का सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिए वहाँ बाह्यज्ञानोत्पत्ति की प्रसक्ति का कहना निराधार है। बाह्य अर्थ कितना भी प्रबल हो, देह-इन्द्रिय आदि के अभाव में ज्ञानोत्पाद के लिए वह समर्थ नहीं होता ॥ ४४ ॥

यही कारण है–अपवर्ग में बाह्य ऐन्द्रियक ज्ञान नहीं होसकता। सूत्रकार ने इसीका निर्देश किया—

तदभावश्चापवर्गे ॥ ४५ ॥ (४५७)

[तद्-अभावः] देह-इन्द्रिय आदि का अभाव रहता है [च] ही, निश्चय से [अपवर्गे] मोक्ष में।

बाह्य-विषयक ज्ञान की उत्पत्ति जिन देह-इन्द्रिय आदि कारणों से होती है, उन सबका मोक्ष में निश्चयपूर्वक अभाव रहता है। तब कारण के अभाव में कार्य कैसे होगा? इसलिए देहादिरहित मोक्ष-दशा में बाह्यज्ञानोत्पत्तिविषयक आपत्ति का कथन निराधार है। ऐसे निराधार कथन के भरोसे पर सदेह जीवन्मुक्त को विषय-प्राबल्य से बाह्य ज्ञान होने का प्रतिषेध करना असंगत होजाता है। इसीकारण मोक्ष का यह स्वरूप बतायागया है कि वहाँ सबप्रकार के दुःखों का छुटकारा होजाता है। केवल मात्र चेतन आत्मा समाधिजन्य स्वगत सामर्थ्य से परमात्म-आनन्द का अनुभव किया करता है। किसीप्रकार के दुःख के उत्पन्न न होने का कारण यही है कि वहाँ दुःख के कारण व आधार देह-इन्द्रिय आदि का अभाव रहता है। बिना निमित्त व बिना आधार के दुःख कैसे उत्पन्न होगा? अतः सदेह सेन्द्रिय तथाकथित जीवन्मुक्त को बाह्यज्ञान होते रहने की सम्भावना बनी रहती है; यह स्थिति समाधिलाभ में प्रबल बाधक है, तब समाधिलाभ के लिए क्या उपाय होना चाहिये? ॥ ४५ ॥

समाधिलाभ के उपाय—आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्म-विध्युपायैः ॥ ४६ ॥ (४५८)

[तद्-अर्थम्] समाधि-सिद्धि के लिए [यमनियमाभ्याम्] यम और नियम के आचरण से [आत्मसंस्कारः] आत्मा का संस्कार-समाधिलाभ की योग्यता–एकाग्रता आदि का सम्पादन करना, [योगात्] योग-चित्तवृत्तिनिरोध से [च] और [अध्यात्मविध्युपायैः] अध्यात्मशास्त्रों में बताये उपायों से।

समाधिसिद्धि के लिए सबसे पहली बात है–आत्मसंस्कार । जबतक आत्मा में राग, द्वेष, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, क्रोध, मोह, लोभ आदि अवगुणों की राशि जमा रहती है, तबतक आत्मा असंस्कृत रहता है, समाधिलाभ की योग्यता–चित्त की एकाग्रता आदि–का वहाँ अभाव रहता है। इसलिए सर्वप्रथम राग-द्वेष आदि अवगुणों को दूरकर चित्त की एकाग्रता के लिए उपयुक्त क्षेत्र का सम्पादन करना आवश्यक है ।

आचार्य ने सूत्र में आत्मसंस्कार के लिए तीन साधनों का निर्देश किया है—१. यम, नियम, २. योग, ३. अध्यात्म-शास्त्रनिर्दिष्ट उपाय ।

१. यम-नियम—इनका विस्तृत विवरण पातञ्जल योगदर्शन में दियागया है । पाँच यम हैं–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह । अहिंसा आदि यमों का आचरण सभी आश्रम व वर्णों के लिए समानरूप से धर्म का साधन मानागया है । जाति, देश, काल तथा अन्य किन्हीं निमित्तों की सीमा से ये रहित हैं। इनको सार्वभौम और महाव्रत बतायागया है ।[1] इनके आचरण से रागादि दोषों के निवारण में पूर्ण सहयोग प्राप्त होता है । पाँच नियम हैं–शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान[2] । ये नियम वर्णों और आश्रमों के लिए अपने-अपने अलग होते हैं । इनका विस्तृत वर्णन पातञ्जल योगदर्शन से देखना चाहिये ।

२. योग—यह आत्मसंस्कार का दूसरा साधन बताया । चित्तवृत्तियों का निरोध 'योग' कहाजाता है । इन्द्रियों के सहयोग से चित्त [मन अथवा बुद्धि] बाह्य विषयों में फँसारहता है । उसको रोकने का प्रयत्न करना चाहिये । वैषयिक वृत्तियों का निरोध निरन्तर अभ्यास और विषयों में वैराग्य की भावना से होता है । यह स्थिति आत्मसंस्कार में उपयोगी है। अथवा सूत्र के 'योग' पद का अर्थ 'योगशास्त्र' है । वहाँ प्रतिपादित उपायों द्वारा आत्मसंस्कार के लिए प्रयत्न करना चाहिये ।

३. अध्यात्मविधि—अध्यात्म के विधायक शास्त्र उपनिषत् आदि हैं । वहाँ आत्मसंस्कार अथवा आत्मज्ञान आदि के लिए विविध उपासना आदि जिन उपायों का वर्णन कियागया है, उनके अनुष्ठान द्वारा आत्मसंस्कार का सम्पादन करना चाहिये ।

जब आत्मा संस्कृत होजाता है, तब अधर्मजनक प्रवृत्तियों का नाश तथा धर्म का उपचय होता है । योगशास्त्र में आत्मसंस्कार व आत्मज्ञान के लिए सभी अपेक्षित उपायों का वर्णन कियागया है । वह योग के आठ अङ्गों के रूप में प्रतिपादित है, जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान,

---

१. द्रष्टव्य, योगदर्शन, २ ॥ ३०-३१ । तथा २ । ३५-३६ ॥

२. द्रष्टव्य, योगदर्शन, २ । ३२ ॥ तथा २ । ४०-४५ ॥

समाधि के रूप में वर्णित है। इनके यथाविधि अनुष्ठान के साथ इन्द्रिय और उनके गन्ध आदि विषयों के सम्बन्ध में यह जानने का यत्न करना चाहिये कि उनकी वास्तविकता क्या है? ये सब जड़ व नश्वर पदार्थ हैं; इनमें आसक्ति पतन की ओर लेजासकती है। ऐसी भावना से राग-द्वेष आदि का उभरना समाप्त होजाता है।

इसप्रकार योगशास्त्र आदि प्रतिपादित विधि के अनुसार उपायों का आचरण करता हुआ व्यक्ति आत्मसंस्कार, आत्मज्ञान एवं तत्त्वज्ञान के सर्वोच्च स्तर को प्राप्त करलेता है। यह पूर्ण समाधिसिद्धि का स्तर है। इस अवस्था को प्राप्त कर योगी जीवन्मुक्त होजाता है। तब सदेह और सेन्द्रिय रहते हुए योगी को प्रबल विषय भी अभिभूत नहीं करपाते। उनकी स्थिति तब नगण्य-जैसी होजाती है। इसलिए उस अवस्था में यदि योगयुक्त आत्मा को बाह्यज्ञान से अभिभूत हुआ मानाजाय, तो अपवर्ग में भी इस स्थिति की सम्भावना प्रसक्त होसकती है। इसी आशय को ४३वें सूत्र में प्रकट कियागया है। तात्पर्य है–जैसे मोक्षदशा में आत्मा बाह्य वैषयिक ज्ञान से अभिभूत नहीं होता, इसीप्रकार जीवन्मुक्त अवस्था में बाह्यविषय योगयुक्त आत्मा को अभिभूत नहीं कर-पाते॥ ४६॥

तत्त्वज्ञान का परिपाक—आत्मसंस्कार एवं तत्त्वज्ञान का परिपाक किन उपायों से होसकता है,-आचार्य सूत्रकार ने बताया—

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः॥ ४७॥ (४५६)

[ज्ञानग्रहणाभ्यासः] आत्मज्ञान के प्रतिपादक शास्त्र का ग्रहण–अध्ययन-धारण तथा अभ्यास-निरन्तर स्वाध्याय-श्रवण-चिन्तन आदि [तद्-विद्यैः] आत्मतत्त्व एवं अध्यात्मशास्त्र के साक्षात्कृतधर्मा व्यक्तियों के–[च] तथा [सह] साथ [संवादः] संवाद-चर्चा करना (तत्त्वज्ञान-परिपाक के उपाय हैं)।

समाधि एवं तत्त्वज्ञान को परिपक्व अवस्था तक पहुँचाने के लिए आचार्य ने दो उपाय इस सूत्र में बताये—१. ज्ञानग्रहणाभ्यास, २. तद्विद्यसंवाद। सूत्र में 'ज्ञान' पद आत्मज्ञान के प्रतिपादक शास्त्र का वाचक है। 'ग्रहण' पद में शास्त्र के अध्ययन, धारण, स्मरण आदि का समावेश होजाता है। 'अभ्यास' का तात्पर्य है–उक्त कार्य के सम्पादन के लिए निरन्तर क्रियाशील रहना। इन कार्यों में कभी आलस्य व उपेक्षा का अंश भी न आने देना। आत्मविद्यासम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन, धारण, स्मरण, चिन्तन आदि में सतत संलग्न रहना। इससे तत्त्वज्ञान व योगसमाधि का स्तर परिष्कृत होता है। इसीलिए अनुभवी आचार्यों ने बताया है—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

समाधि व आत्मज्ञान के लिए व्यक्ति का निरन्तर अनुष्ठान में बैठे रहना सम्भव नहीं होता। नियतकाल अथवा अपेक्षित काल तक अनुष्ठान कर जब उसमें कुछ थकावट का अनुभव करे, तो अनुष्ठान से उठकर अध्यात्मशास्त्र के स्वाध्याय-अध्ययन, स्मरण, चिन्तन आदि में लगजाय। जब इधर से अपेक्षित कार्य सम्पन्न होजाय, पुनः योगानुष्ठान में लगजाय। अध्यात्ममार्गी को अन्य किसी अनपेक्षित कार्य में अपना समय नष्ट न करना चाहिये। इसप्रकार स्वाध्याय और योग के अनुष्ठान से यथावसर परमात्मा का साक्षात्कार होजाता है। यह तत्त्वज्ञान के परिपाक के लिए पहला उपाय बताया।

२. **तद्विद्यसंवाद**—जो इस विषय के विशेषज्ञ हैं, अपने से अधिक जानकार हैं, उनके साथ इस विषय पर संवाद करना, जिज्ञासा की भावना से चर्चा करना। इससे अपना ज्ञान परिपक्व होता है। 'परिपाक' पद का तात्पर्य है-ऐसा आचरण करने से उस विषय में कोई सन्देह नहीं रहता; तथा जो अर्थ अभीतक जाना नहीं है, उसकी जानकारी होजाती है। जो अर्थतत्त्व जानाहुआ है, उसमें दूसरे विशेषज्ञ की अनुमति प्राप्त होजाती है, जिससे अपना ज्ञान पुष्ट होता है। 'संवाद' पद का तात्पर्य है-जिससे परस्पर चर्चा करनेवाले दोनों व्यक्तियों का ज्ञान समान होजाय; उनमें न्यूनाधिकता न रहे ॥ ४७ ॥

संवाद किनके साथ करे—गतसूत्र में 'तद्विद्यैः सह संवादः' इस वाक्य का 'तद्विद्य' पद कुछ अस्पष्ट रहा। वे 'तद्विद्य' कौन होसकते हैं, अथवा कौन होने चाहियें? सूत्रकार स्वयं उसे स्पष्ट करता है—

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोर्थिभि-रनसूयुभिरभ्युपेयात् ॥ ४८ ॥ (४६०)

[तम्] उस संवाद को [शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोर्थिभिः] शिष्य, गुरु, सहाध्यायी, विशिष्ट, तथा श्रेयोर्थी-मोक्षाभिलाषी व्यक्तियों के साथ [अनसूयुभिः] जो असूया-ईर्ष्या आदि करनेवाले नहीं-[अभ्युपेयात्] स्वीकार करे।

सूत्रनिर्दिष्ट शिष्य आदि परस्पर यथावसर अध्यात्मविषयक संवाद किया करें। शिष्य, गुरु पद प्रसिद्ध हैं। सब्रह्मचारी का अर्थ सहाध्यायी है; साथ पढ़नेवाले अन्य छात्र। साथियों में सबकी योग्यता समान नहीं रहती। गुरु से अध्ययन के अनन्तर परस्पर संवाद से अधीत विषय के स्पष्ट होने में बड़ी सहायता मिलती है। 'विशिष्ट' पद का तात्पर्य है-अपनी अपेक्षा से अधिक ज्ञान रखनेवाला। ऐसे साथियों से शास्त्रीय चर्चा करने पर अपना ज्ञान बढ़ता है। इसीप्रकार मोक्षार्थी व्यक्तियों के साथ उस विषय की चर्चा करने से मोक्षसम्बन्धी अपने ज्ञान में वृद्धि की आशा रहती है। यह ध्यान रखना चाहिये, जिनके साथ

संवाद करना है, वे ईर्ष्या आदि रखनेवाले न हों, क्रोधी न हों। ऐसे व्यक्तियों के साथ चर्चा में कभी-कभी ज्ञानलाभ के स्थान पर चित्त में अधिक विक्षेप उत्पन्न होने की सम्भावना होजाती है ॥ ४८ ॥

संवाद में पक्षादि का त्याग—यदि कभी ऐसा अवसर आजाय कि परस्पर चर्चा में पक्ष-प्रतिपक्ष का स्वीकार करना दूसरे के लिए प्रतिकूल प्रतीत हो, तो चर्चा का चालू करना क्या उपयुक्त होगा? शिष्य की इस जिज्ञासा पर आचार्य सूत्रकार ने बताया—

प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ॥ ४९ ॥ (४६१)

[प्रतिपक्षहीनम्] प्रतिपक्षरहित [अपि] भी [वा] अथवा [प्रयोजनार्थम्] प्रयोजन की सिद्धि के लिए (संवाद स्वीकार करे), [अर्थित्वे] अभिलाषी होने पर (संवाद का)।

यदि जिज्ञासु व्यक्ति अपने गुरु अथवा अन्य आदरणीय व्यक्ति के साथ–अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए–संवाद का अभिलाषी है, तो वहाँ चर्चा में पक्ष-प्रतिपक्ष की स्थापना का विचार छोड़देना चाहिये। गुरु आदि आदरणीय व्यक्तियों के साथ चर्चा में उनके द्वारा प्रतिपक्षस्थापना के लिए संकेत करना, तथा अपने पक्ष की स्थापना के अवसर पर प्रतिपक्ष के प्रत्याख्यान का निर्देश करना शिष्टाचार के प्रतिकूल होसकता है। इसलिए स्वगत तत्त्वज्ञान के परिपाक की भावना से अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए पक्ष-प्रतिपक्ष से रहित संवाद करने में कोई बाधा नहीं। गुरु आदि आदरणीय ज्ञानवृद्ध व्यक्तियों से उपयुक्त ज्ञान का ग्रहण करना अभिप्रेत होता है। उनके सन्मुख जिज्ञासु होकर जाना ठीक है, प्रतिवादी होकर नहीं। ऐसे संवादों में पक्ष-प्रतिपक्ष स्थापना की चिन्ता को छोड़कर गुरु आदि के द्वारा कियेगये उपदेश से अपने ज्ञान का परिशोधन करना अधिक अनुकूल होता है। इसलिए ऐसे संवाद पक्ष-प्रतिपक्ष के विना कियेजासकते हैं ॥ ४९ ॥

तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए जल्प आदि का प्रयोग—दार्शनिक जगत् में अनेक अखाड़ेबाज़ों के दर्शनाभास भी परस्पर विरुद्ध दर्शन के रूप में उपस्थापित कियेजाते हैं; उनमें अनेक अपने पक्ष के अनुराग से न्याय्य बात का उल्लंघन करजाते हैं। कहा यह जाता है कि वे तत्त्वज्ञान का परिशोधन करनेवाले हैं, पर कदाचित् वे तत्त्वज्ञान को अपने अन्यथा प्रयास से आविल ही करते हैं। क्या वहाँ संवाद अपेक्षित है? शिष्यजिज्ञासा पर आचार्य ने बताया—

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ॥ ५० ॥ (४६२)

[तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थम्] तत्त्वज्ञान की सम्यक् रक्षा के लिए [जल्प-वितण्डे] जल्प और वितण्डा-कथा का प्रयोग करे। [बीजप्ररोहसंरक्षणार्थम्] बीज बोये जाकर उनके अङ्कुर फूट आने पर उनकी ठीक रक्षा के लिए [कण्टक-शाखावरणवत्] जैसे कण्टीली शाखाओं की बाड़ लगायीजाती है।

तत्त्वज्ञान की वृद्धि एवं परिशोधन के लिए संवाद का गतसूत्रों में उल्लेख कियागया। संवाद अथवा वाद-कथा का उपयोग जिज्ञासु-भावना में कियाजाता है। यदि तत्त्वज्ञान के लिए केवल वाद-कथा का उपयोग है, तब जल्प और वितण्डा-कथा को क्या निष्प्रयोजन समझना चाहिये? वस्तुतः जल्प-वितण्डा-कथा का उपयोग जिज्ञासा की शान्ति के लिए नहीं होता। उस क्षेत्र में वाद-कथा अपेक्षित रहती है। परन्तु जब मिथ्याज्ञान में डूबे व्यक्ति अपने तत्त्वज्ञानी होने का अभिमान रखते हुए तत्त्वज्ञान को धूमिल करने पर तत्पर होजाते हैं, तब जल्प और वितण्डा-कथा के द्वारा उनके प्रयासों को निष्फल बनायाजाता है। इससे उनके अज्ञान व मिथ्याज्ञानरूप दोष की निवृत्ति होकर तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के लिए सम्भावना बढ़जाती है।

खेत में बीज बोकर जब कोमल अङ्कुर बाहर की ओर झाँकने लगते हैं, तब कृषक उनकी रक्षा के लिए खेत के चारों ओर कण्टीली शाखाओं की बाड़ (आवरण) लगादेता है, जिससे पशु आदि उनको कोई हानि न पहुँचा सकें। वे रक्षित हुए कोमल-आकर्षक अंकुर समय आने पर उन हानिकारक पशुओं के लिए भी उपयुक्त खाद्य प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं। इसीप्रकार जल्प और वितण्डा से रक्षित तत्त्वज्ञान समय आने पर उन अज्ञानी व्यक्तियों को भी सन्मार्ग दिखाने को सक्षम होता है, जो कभी उसे चबाजाने के लिए तत्पर थे। फलतः जल्प-वितण्डा-कथा भी अपने स्थान पर तत्त्वज्ञान के लिए उपयोगी हैं॥ ५०॥

जल्प आदि का अन्यत्र प्रयोग—अपने ज्ञान की अन्यायपूर्वक दूसरे के द्वारा निन्दा कियेजाने से तिरस्कृत व्यक्ति भी दूसरे पर विजय प्राप्त कर उसे तत्त्वज्ञान का यथार्थ मार्ग दिखाने की भावना से जल्प-वितण्डा-कथा का प्रयोग करसकता है, यह सूत्रकार ने बताया—

ताभ्यां विगृह्य कथनम्॥ ५१॥ (४६३)

[ताभ्याम्] जल्प और वितण्डा कथा द्वारा [विगृह्य] विवेचन कर, तोड़-फोड़कर (परपक्ष की), [कथनम्] कथा का प्रारम्भ रक्खें।

ऐसे अवसरों पर जल्प-वितण्डा का प्रयोग विजय के लिए कियाजाता है; तत्त्वविषयक अपनी जानकारी के लिए नहीं। यह सब तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए कियाजाता है; अपने वैयक्तिक लाभ, सत्कार एवं ख्याति आदि की भावना से नहीं।

यहाँ चतुर्थ अध्याय में प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग प्रमेयों की परीक्षा कीगई। प्रसंगवश अपवर्ग के उपाय तत्त्वज्ञान, एवं उसके साधनों तथा उसकी रक्षा के प्रकार का भी उपपादन कियागया ॥ ५१ ॥

इति श्रीउदयवीरशास्त्रि-प्रणीते न्यायदर्शनविद्योदयभाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।
समाप्तश्चतुर्थोऽध्यायः ।

अथ पञ्चमाध्यायस्याद्यमाह्निकम्

गत चार अध्यायों में प्रमाण, प्रमेय आदि पदार्थों के उद्देश, लक्षण और परीक्षा का निरूपण कियागया। न्यायप्रतिपादित सोलह पदार्थों में से अन्तिम दो पदार्थ 'जाति' और 'निग्रहस्थान' हैं। यहाँ 'जाति' पद सामान्य धर्म का वाचक न होकर अनुमान-वाक्य में किसी नवीन उद्‌भावना को अभिव्यक्त करदेने के अर्थ में प्रयुक्त है। प्रथम [१। २। १८-१९] जाति और निग्रहस्थान के लक्षण कर सूत्रकार ने कहा है--इनके द्वारा प्रत्याख्यान के विविध प्रकार होने से इनके अनेक विभाग हैं [१। २। २०], उसीको विस्तार से उपपादन करने के लिए यह पञ्चमाध्याय का प्रारम्भ कियाजाता है।

जाति-निर्देश—किसी पक्ष की स्थापना करने पर जाति-प्रयोग द्वारा उसका प्रतिषेध करने के लिए जिन प्रकारों से हेतुनिर्देश कियाजाता है, उनकी संख्या चौबीस है। आचार्य सूत्रकार ने नामोल्लेखपूर्वक उनका निर्देश किया—

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्ति-प्रसंगप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोप-पत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः ॥ १ ॥ (४६४)

[साधर्म्य०–० कार्यसमाः] 'साधर्म्यसमा' से 'कार्यसमा' तक जाति-प्रयोगों के चौबीस प्रकार हैं।

सूत्र के अन्त में पठित 'सम' पद का 'साधर्म्य' आदि प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। इसके अनुसार चौबीस जातियों के नाम इसप्रकार हैं— १. साधर्म्यसमा, २. वैधर्म्यसमा, ३. उत्कर्षसमा, ४. अपकर्षसमा, ५. वर्ण्यसमा, ६. अवर्ण्यसमा, ७. विकल्पसमा, ८. साध्यसमा, ९. प्राप्तिसमा, १०. अप्राप्तिसमा, ११. प्रसङ्गसमा, १२. प्रतिदृष्टान्तसमा, १३. अनुत्पत्तिसमा, १४. संशयसमा, १५. प्रकरणसमा, १६. अहेतुसमा, १७. अर्थापत्तिसमा, १८. अविशेषसमा, १९. उपपत्तिसमा, २०. उपलब्धिसमा, २१. अनुपलब्धिसमा, २२. नित्यसमा, २३. अनित्यसमा, २४. कार्यसमा।

विशेष्य पद 'जाति' होने पर 'साधर्म्यसमा' इत्यादि स्त्रीलिङ्ग निर्देश है। यदि विशेष्य 'प्रतिषेध' पद हो, तो 'साधर्म्यसमः' इत्यादि रूप में पुंल्लिङ्ग प्रयोग होगा, जैसा आगे लक्षणसूत्रों में सर्वत्र उपलब्ध है। जब किसी पक्ष की स्थापना

साधर्म्य-हेतु से कीजाती है, उसीके समान साधर्म्यहेतु से उसका प्रतिषेध करना साधर्म्यसम है। इसीप्रकार स्थापनाहेतु के समान वैधर्म्य से प्रतिषेध करने पर वैधर्म्यसम होजाता है। इनके विषय में अन्य विशेष यथाप्रसंग आगे निरूपण कियाजायगा ॥ १ ॥

साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥ २ ॥ (४६५)

[साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्] साधर्म्यहेतु से अथवा वैधर्म्यहेतु से (वादी के द्वारा अपने पक्ष के) [उपसंहारे] उपसंहार–निगमन-स्थापन करने पर [तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः] साध्य धर्म के विपर्यय–वैपरीत्य की सिद्धि (प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत कियेजाने) से [साधर्म्यवैधर्म्यसमौ] साधर्म्यसम तथा वैधर्म्यसम प्रतिषेध होता है।

साधर्म्यसम जाति—किसी पक्ष की स्थापना में प्रयुक्त हेतु यदि सत् है, यथार्थ है, तो उस सद्धेतु का प्रतिषेध सद्धेतु से नहीं होसकता, क्योंकि वस्तुतत्त्व में विकल्प की सम्भावना नहीं होती। वस्तुतत्त्व का यथार्थ साधकहेतु सद्धेतु है, वह एक ही होगा। उसी अर्थ के विपरीतरूप का साधक हेतु सद्धेतु नहीं होसकता। इसलिए सद्धेतु का प्रतिषेध सद्धेतु और असद्धेतु दोनों से कियाजाता है। असद्धेतु का प्रयोग जाति का स्वरूप है, चाहे वह वादी के द्वारा प्रस्तुत कियागया हो, चाहे प्रतिवादी के द्वारा।

वादी के द्वारा साधर्म्य से अथवा वैधर्म्य से अपने पक्ष का उपसंहार करने पर जब प्रतिवादी द्वारा दोनों का प्रतिषेध साधर्म्य से कियाजाता है, तब वह साधर्म्यसम प्रतिषेध है। ऐसे ही दोनों का प्रतिषेध जब वैधर्म्य से कियाजाता है, तब वह वैधर्म्यसम है। इसप्रकार साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम के दो-दो भेद होजाते हैं।

साधर्म्यसम—उदाहरण–वादी साधर्म्यहेतु से अपने पक्ष की स्थापना करता है–आत्मा सक्रिय है (प्रतिज्ञा); द्रव्य होने से (हेतु); जो द्रव्य होता है, उसमें क्रिया को उत्पन्न करनेवाला गुण संयोग आदि रहता है, जैसे लोष्ट–ढेला (व्याप्ति सहित दृष्टान्त); ढेला जैसे द्रव्य होते हुए क्रियाहेतु गुणवाला है, सक्रिय है, ऐसा ही आत्मा है (उपनय); इसलिए ढेले के समान आत्मा को सक्रिय मानना चाहिए (निगमन)।

साधर्म्य से पक्ष की स्थापना होने पर प्रतिवादी साधर्म्य से उसका प्रतिषेध प्रस्तुत करता है–आत्मा निष्क्रिय है (प्रतिज्ञा); विभु होने से (हेतु); जो द्रव्य विभु होता है, वह निष्क्रिय होता है, जैसे आकाश (व्याप्तिसहित दृष्टान्त); आकाश जैसे विभु द्रव्य है, वैसा ही आत्मा है (उपनय); इसलिए आकाश के समान विभु द्रव्य होने से आत्मा निष्क्रिय है (निगमन)। इसमें कोई हेतु नहीं

कि सक्रिय-साधर्म्य से आत्मा सक्रिय मानाजाय, निष्क्रिय-साधर्म्य से निष्क्रिय न मानाजाय। यहाँ साधर्म्य-हेतु से स्थापित पक्ष का समानरूप में साधर्म्य-हेतु से प्रतिषेध होने के कारण 'साधर्म्यसम' जाति का प्रयोग है। यह साधर्म्यसम के पहले भेद का उदाहरण है।

वैधर्म्य-हेतु से जब वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है, जैसे–आत्मा निष्क्रिय है–(प्रतिज्ञा); विभु होने से (हेतु); सक्रिय द्रव्य अविभु देखाजाता है, जैसे–ढेला (दृष्टान्त); आत्मा ढेले के समान अविभु नहीं है (उपनय); इसलिए आत्मा सक्रिय न होकर निष्क्रिय है (निगमन)। साधर्म्य-हेतु से इसका प्रतिषेध–आत्मा सक्रिय है (प्रतिज्ञा); क्रिया के हेतु गुणवाला होने से (हेतु); क्रिया के हेतु गुण से युक्त द्रव्य सक्रिय देखाजाता है, जैसे–ढेला (दृष्टान्त); आत्मा भी क्रियाहेतु गुण से युक्त है (उपनय); इसलिए ढेले के समान सक्रिय है, (निगमन)। यह साधर्म्यसम जाति के दूसरे भेद का उदाहरण है।

वैधर्म्यसम—उदाहरण–वादी जब अपने पक्ष की स्थापना वैधर्म्य-हेतु से करता है, जैसे आत्मा निष्क्रिय है (प्रतिज्ञा); विभु होने से (हेतु); सक्रिय द्रव्य अविभु देखाजाता है, जैसे ढेला (दृष्टान्त); आत्मा वैसा (अविभु) नहीं है (उपनय); इसलिए ढेले के समान सक्रिय न होकर निष्क्रिय है (निगमन)। इस स्थापना का प्रतिषेध वैधर्म्य-हेतु से प्रतिवादी प्रस्तुत करता है–आत्मा सक्रिय है (प्रतिज्ञा); क्रिया के हेतु गुण से युक्त होने के कारण (हेतु); निष्क्रिय द्रव्य क्रिया के हेतु गुण से रहित देखाजाता है, जैसे आकाश (दृष्टान्त); आत्मा आकाश के समान क्रिया के हेतु गुण से रहित नहीं है (उपनय); इसलिए आकाश के समान आत्मा निष्क्रिय न होकर सक्रिय है (निगमन)। इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है–सक्रिय द्रव्य के वैधर्म्य से आत्मा को निष्क्रिय मानाजाय, तथा निष्क्रिय द्रव्य के वैधर्म्य से सक्रिय न मानाजाय। वैधर्म्य-हेतु से पक्ष-स्थापना का उपसंहार होने पर वैधर्म्य-हेतु से प्रतिषेध करना 'वैधर्म्यसम' जाति के प्रथम भेद का यह उदाहरण है।

वादी जब साधर्म्यहेतु से अपने पक्ष की स्थापना करता है, उसका प्रतिषेध वैधर्म्य-हेतु से कियाजाना, 'वैधर्म्यसम' जाति का दूसरा भेद है। इसका उदाहरण आत्मा सक्रिय है (प्रतिज्ञा); क्रियाहेतु गुण से युक्त द्रव्य होने के कारण (हेतु); क्रिया के हेतु गुण से युक्त द्रव्य सक्रिय होता है, जैसे–ढेला (दृष्टान्त); आत्मा ढेले के समान क्रियाहेतु गुणवाला द्रव्य है (उपनय); इसलिए ढेले के समान सक्रिय है (निगमन)। इसका प्रतिषेध वैधर्म्य-हेतु से प्रतिवादी प्रस्तुत करता है–आत्मा निष्क्रिय है (प्रतिज्ञा); अपरिच्छिन्न [विभु] द्रव्य होने से (हेतु); क्रिया-हेतु गुणवाला द्रव्य परिच्छिन्न देखाजाता है, जैसे–ढेला (दृष्टान्त); आत्मा ढेले के समान परिच्छिन्न द्रव्य नहीं है (उपनय); इसलिए ढेले के समान सक्रिय न होकर आत्मा निष्क्रिय है (निगमन)। इसमें कोई विशेष हेतु नहीं कि

सक्रिय द्रव्य के साधर्म्य से आत्मा सक्रिय मानाजाय, और सक्रिय द्रव्य के वैधर्म्य से निष्क्रिय न मानाजाय। यह वैधर्म्यसम जाति के दूसरे भेद का उदाहरण है।

साधर्म्य-वैधर्म्य-हेतु से उपसंहृत पक्ष का साधर्म्य-हेतु से प्रतिषेध करना साधर्म्यसम जाति का प्रयोग; तथा साधर्म्य-वैधर्म्य-हेतु से उपसंहृत पक्ष का वैधर्म्य हेतु से प्रतिषेध करना वैधर्म्यसम जाति का प्रयोग मानाजाता है॥ २॥

साधर्म्य-वैधर्म्यसम का उत्तर—साधर्म्य-वैधर्म्यसम जाति के प्रयोग का उत्तर इसप्रकार दियाजाना चाहिए। आचार्य ने बताया—

गोत्वाद् गोसिद्धिवत् तत्सिद्धिः॥ ३॥ (४६६)

[गोत्वात्] गोत्व सामान्य से [गोसिद्धिवत्] गौ की सिद्धि के समान [तत्-सिद्धिः] साध्य की सिद्धि होती है (केवल सद्धेतु से अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट हेतु से)।

यह गौ है, इसका निश्चय गो-पशु में समवेत 'गोत्व' सामान्य से होजाता है, अन्य किसी सास्ना आदि के सम्बन्ध से अथवा अन्य किसी गुणविशेष से गौ का निश्चय नहीं होता। सास्ना आदि का सम्बन्ध व्यभिचारी है; नियमितरूप से प्रत्येक गाय में रहे, अथवा केवल गोवर्ग के पशु में रहे, ऐसा नहीं है। अनेक देशों की गायों के सास्ना नहीं होती। भारत में काठियावाड़ की गाय तथा योरोप के देशों की गाय सास्नारहित देखीजाती है। गाय के अतिरिक्त अन्य पशुओं के भी गले या गर्दन के नीचे सास्ना के समान लटकता हुआ चर्म-अङ्ग देखाजाता है। अतः गाय की सिद्धि के लिए सास्ना का होना ऐकान्तिक साधन नहीं है। गोत्व सामान्यरूप धर्मविशेष गोमात्र में समवेत रहता है, चाहे उसकी सास्ना हो, या न हो; तथा गोमात्र से अतिरिक्त अन्य किसी प्राणी में गोत्व धर्म समवेत नहीं रहता, भले ही वहाँ सास्ना का सम्बन्ध हो।

इसप्रकार गाय का निश्चायक साधन जैसे 'गोत्व' है, ऐसे आत्मा के निष्क्रिय होने का साधन उसका विभु होना है। विभु का तात्पर्य है—अपरिच्छिन्न। जो द्रव्य किसी देश, काल आदि से परिच्छिन्न—सीमित न हो। ऐसा सर्वत्र व्यापक पदार्थ सक्रिय-गतिशील नहीं होसकता। एकदेश को छोड़कर देशान्तर प्राप्तिरूप क्रिया का एकदेशी द्रव्य में होना सम्भव होता है। क्रिया के हेतु संयोग आदि गुण के होने से ढेले के समान आत्मा में सक्रियता को सिद्ध नहीं कियाजासकता। क्रिया की उत्पत्ति में संयोग गुण अव्यभिचरित साधन नहीं है। विभु द्रव्य आकाश आदि में वायु-संयोग रहता है। जैसे वायु वृक्ष-संयोग से वृक्ष में क्रिया उत्पन्न होती है, ऐसे वायु-आकाश-संयोग से आकाश में क्रिया होजाया करे। पर यह सम्भव नहीं। आकाश का विभु होना इसमें बाधक है; इसलिए वह

निष्क्रिय है। आत्मा द्रव्य का भी विभु होना उसकी सक्रियता का बाधक है।[1] इसलिए ढेले आदि किसी के साधर्म्यमात्र अथवा अश्व आदि के वैधर्म्यमात्र को किसी साध्य का साधन मानने पर उक्त अव्यवस्था खड़ी होजाती है।

अनुमान द्वारा अर्थ की सिद्धि में पञ्चावयव अनुमान के कैसे हेतु व दृष्टान्त साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होते हैं, इसका निरूपण अवयवप्रकरण [१। १। ३४-३७] में करदियागया है। साध्य की सिद्धि के लिए अनुमान में प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों का प्रयोग अपेक्षित होता है। वहाँ साध्य का साधन चाहे सद्धेतु है, अथवा असद्धेतु, वाक्यों का प्रयोग उभयत्र समान होता है, पर इतनी समानतामात्र से प्रत्येक हेतु साध्य का साधन नहीं करसकता। साध्य का साधनसद्धेतु से होता है, असद्धेतु से नहीं। वस्तुतत्त्व सदा एकरूप है; उसमें विकल्प अथवा अन्यथाभाव सम्भव नहीं। असद्धेतु उसके स्वरूप को बदल नहीं सकता। विभु आत्मा की निष्क्रियता को किसीके साधर्म्य अथवा वैधर्म्यमात्र से अन्यथा नहीं कियाजासकता। ऐसा होने पर द्रव्यत्व-साधर्म्य से ढेले के समान आत्मा को जड़ भी मानलियाजासकता है, जो अनिष्ट है। असद्धेतु हेत्वाभासरूप होते हैं; हेत्वाभासों का प्रयोग अव्यवस्था का कारण है। असद्धेतु की असत्यता–साध्य के प्रति असाधनता–प्रकट करदेने पर ऐसे हेतु का प्रयोक्ता चर्चा में पराजित मानाजाता है। तब चर्चा समाप्त होजाती है ॥ ३ ॥

उत्कर्षसम आदि छह जाति—प्रारम्भिक साधर्म्य-वैधर्म्यसम दो जाति-प्रयोगों का निरूपण कर आचार्य सूत्रकार अग्रिम छह जाति-प्रयोगों का विवरण एक सूत्र द्वारा प्रस्तुत करता है—

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्च उत्कर्षापकर्षा-वर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ॥ ४ ॥ (४६७)

[साध्यदृष्टान्तयोः] साध्य–साध्याधिकरण पक्ष–में तथा दृष्टान्त में (दोनों के–) [धर्मविकल्पात्] धर्म- विकल्प से, [उभयसाध्यत्वात्] दोनों–पक्ष और दृष्टान्त के साध्य होने से [च] और [उत्कर्षा०···साध्यसमाः] उत्कर्षसम,

---

१. भाष्यकार वात्स्यायन ने जाति-प्रयोगों को समझाने के लिए अनुमान-वाक्य में प्रथम आत्मा को अधिकरण माना है। न्याय आत्मा को विभु मानता है; इसलिए उसका निष्क्रिय मानाजाना सिद्धान्त-पक्ष है। यदि इन प्रसंगों में 'आत्मा' पद परमात्म-परक मानाजाता है, तो जो वादी जीवात्मा को परिच्छिन्न परिमाण मानते हैं, उनके लिए भी यह आपत्तिजनक नहीं। प्रमेय सूत्र [१। १। ९] में 'आत्मा' पद सर्वप्रथम पठित है। जीवात्मा के साथ उक्त पद से परमात्मा का भी निर्देश अथवा संकेत सम्भव है।

अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम, साध्यसम जाति का प्रयोग जानाजाता है।

छह जातियों का स्वरूप बताने के लिए दो हेतुओं का निर्देश किया है। एक–'साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पात्-; दूसरा– 'उभयसाध्यत्वात्'। पहले हेतु से प्रारम्भिक पाँच जातियों का स्वरूप अभिव्यक्त होजाता है। दूसरा हेतु अन्तिम पठित 'साध्यसम' जाति की अभिव्यक्ति का आधार है।

उत्कर्षसम—सूत्र के 'धर्मविकल्प' पद का अर्थ है–धर्मों की विविधता। एक पदार्थ में अनेक धर्म आश्रित रहते हैं। किसी पक्ष में साधनीय धर्म को सिद्ध करने के लिए अनुमान का प्रयोग कियाजाता है। अनुमान के पाँच अवयवों में से एक अवयव दृष्टान्त है। पक्ष और दृष्टान्त में हेतु-धर्म के समान होने से उसके आधार पर दृष्टान्तगत अभिमत धर्म के अनुरूप पक्ष में साधनीय धर्म को सिद्ध कियाजाता है। यह आवश्यक नहीं कि दृष्टान्तगत प्रत्येक धर्म का अस्तित्व पक्ष में हो। पदार्थों में धर्म की इस विविधता के कारण हेतु-साधर्म्य से दृष्टान्तगत ऐसे धर्म को पक्ष में आरोपित करना–जो पक्ष में विद्यमान नहीं–'उत्कर्षसम' जाति का प्रयोग है।

उदाहरण—वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है–आत्मा सक्रिय है (प्रतिज्ञा); क्रियाहेतु गुण का आश्रय होने से (हेतु); जो क्रियाहेतु गुण का आश्रय है, वह सक्रिय होता है, जैसे ढेला (उदाहरण); प्रतिवादी इसके उत्तर में कहता है–यदि क्रियाहेतुगुणयोग से ढेले के समान आत्मा सक्रिय है, तो ढेले के समान आत्मा स्पर्शवाला भी होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं मानाजाता, अर्थात् ढेले के समान आत्मा स्पर्शवाला नहीं है, तो ढेले के समान सक्रिय भी नहीं मानाजाना चाहिए। इसमें कोई विशेष हेतु नहीं कि आत्मा ढेले के समान सक्रिय मानाजाय, पर स्पर्शवाला न मानाजाय। यह प्रतिवादी द्वारा 'उत्कर्षसम' जाति का प्रयोग है। दृष्टान्त के स्पर्श-धर्म को पक्ष में आरोपित कियागया, जो पक्ष में अविद्यमान है।

अपकर्षसम—इसीप्रकार दृष्टान्त की परिस्थिति के अनुसार पक्ष में विद्यमान धर्म का अभाव बताना–'अपकर्षसम' जाति है। पूर्वोक्त वादी द्वारा अपने पक्ष की स्थापना करने पर प्रतिवादी कहता है–यदि ढेले के समान आत्मा सक्रिय है, तो ढेले के समान वह अविभु (परिच्छिन्न) भी होना चाहिए। इसमें कोई विशेष हेतु नहीं कि आत्मा ढेले के समान सक्रिय तो मानाजाय, पर अविभु न मानाजाय। विभुत्वधर्म दृष्टान्त में नहीं, परन्तु पक्ष में विद्यमान है। प्रतिवादी दृष्टान्त की परिस्थिति के अनुसार पक्ष में विभुत्व-धर्म के अभाव का आपादन करता है। यह विद्यमान धर्म का अपचय प्रकट करना 'अपकर्षसम' जाति का प्रयोग है।

वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम—प्रत्येक अनुमान-प्रयोग में प्रतिज्ञा-वाक्य (अवयव) के अन्तर्गत एक 'साध्य' धर्म होता है, अनुमान-प्रयोक्ता जिसका प्रख्यापन-वर्णन करना चाहता है। वह 'वर्ण्य' है, जिसका वर्णन प्रस्तुत अनुमान में अपेक्षित नहीं है; अर्थात् जो पहले से निश्चित है; वह दृष्टान्तगत धर्म 'अवर्ण्य' है। इन दोनों का परस्पर विपर्यास करदेना 'वर्ण्यसम' तथा 'अवर्ण्यसम' जाति का प्रयोग है। समान हेतु के आधार पर पक्ष और दृष्टान्त की समानता से 'अवर्ण्य' को वर्ण्य बताना 'वर्ण्यसम' तथा 'वर्ण्य' को अवर्ण्य बताना 'अवर्ण्यसम' जाति है। जैसे 'क्रियाहेतुगुणयोग'-हेतु पक्ष और दृष्टान्त दोनों में समान है। वादी द्वारा पूर्वनिर्देशानुसार अपने पक्ष की स्थापना करदेने पर प्रतिवादी कहता है-यदि उक्त हेतु के आधार पर पक्ष और दृष्टान्त दोनों समान हैं, तो पक्षगतधर्म के समान दृष्टान्तगत धर्म को 'वर्ण्य' मानाजाना चाहिए; अथवा दृष्टान्तगत धर्म के समान पक्षगत धर्म को 'अवर्ण्य' मानाजाय। इसमें कोई विशेष हेतु नहीं कि पक्ष और दृष्टान्त के समान होने पर एक जगह धर्म वर्ण्य मानाजाय, दूसरी जगह अवर्ण्य। इनमें पहला 'वर्ण्यसम' और दूसरा 'अवर्ण्यसम' जाति के स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। इन जातियों के प्रयोग में पक्ष और दृष्टान्त के धर्मों का वैविध्य मूल है।

विकल्पसम—पक्ष और दृष्टान्त में किन्हीं धर्मों के वैविध्य का आश्रय लेकर पक्ष में साध्यधर्म के विपरीत धर्म का आपादन करना 'विकल्पसम' जाति है। वादी के द्वारा पूर्व-निर्देशानुसार अपने पक्ष की स्थापना करदेने पर प्रतिवादी कहता है–क्रियाहेतुगुण से युक्त कोई पदार्थ गुरु [भारी] देखाजाता है, जैसे–ढेला। तथा कोई पदार्थ लघु [हलका] देखाजाता है, जैसे-वायु; यद्यपि क्रिया-हेतुगुणयोग उभयत्र [ढेले और वायु में] समान है। जब उभयत्र हेतु समान होनेपर भी एक गुरु और एक लघु देखाजाता है, तो इसीप्रकार ढेले और आत्मा में क्रियाहेतुगुणयोग समान रहने पर भी ढेला सक्रिय और आत्मा निष्क्रिय क्यों न मानाजाय? अन्यथा ढेले और वायु में भी एक को गुरु और एक को लघु नहीं मानाजाना चाहिये। यहाँ गुरुत्व और लघुत्व धर्मविकल्प की कल्पना से पक्षगत साध्यधर्म–सक्रियत्व के अभाव का पक्ष में आपादन कियाजाता है। अतः यह विकल्पसम जाति का प्रयोग है।

साध्यसम—अनुमान के हेतु, दृष्टान्त आदि अवयवों का सामर्थ्य (साफल्य) जिस धर्म की सिद्धि में निखार प्राप्त करता है, वह धर्म अनुमान-वाक्य में 'साध्य' कहाजाता है। सव्याप्तिक हेतु के बल पर पक्ष और दृष्टान्त की समानता को प्रस्तुत कर साध्य धर्म का दृष्टान्त में आपादन करना 'साध्यसम' जाति है। वादी अपने पक्ष की स्थापना के अवसर पर जब दृष्टान्त और उपनय का कथन करता है, तब कहता है-जो पदार्थ क्रियाहेतुगुण वाला है, वह सक्रिय है, जैसे-ढेला

(दृष्टान्त); वैसा ही क्रियाहेतुगुण वाला आत्मा है (उपनय)। वादी के ऐसा कहने पर प्रतिवादी कह उठता है—यदि लोष्ट (ढेले) के समान आत्मा है, तो इससे सिद्ध हुआ जैसा आत्मा है वैसा लोष्ट है। आत्मा का सक्रिय होना अभी साध्य है, तो आत्मा के समान लोष्ट का सक्रिय होना भी साध्य मानना चाहिये। लोष्ट की सक्रियता के निश्चय में साध्यता का आपादन होने से यह 'साध्यसम' जाति का प्रयोग है। यदि लोष्ट में सक्रियता साध्य नहीं है, तो आत्मा को लोष्ट के समान बताकर दोनों को एकधर्मयुक्त कहना असंगत होगा।

साध्यसम और वर्ण्यसम में आपाततः कुछ समानता प्रतीत होती है। वहाँ अवर्ण्य (निश्चित) दृष्टान्त को वर्ण्य (साध्य) कहागया; यहाँ दृष्टान्त में साध्य होने का आपादन कियागया। इन दोनों जातियों के स्वरूप में यह भेद है—'साध्यसम' जाति में दृष्टान्त की अनुपपत्ति प्रकट कीगई है। यदि आत्मा के समान लोष्ट की सक्रियता साध्य है, तो दृष्टान्त के रूप में उसका प्रस्तुत कियाजाना अनुपपन्न होगा। वर्ण्यसम में प्रतिवादी उसकी दृष्टान्तता को चुनौती नहीं देता; प्रत्युत दृष्टान्त के वर्ण्य (साध्य) न होने में हेतु की जिज्ञासा करता है। वह चाहता है कि वादी हेतु प्रस्तुतकर यह सिद्ध करे कि दृष्टान्त-धर्म वर्ण्य (साध्य) नहीं है ॥ ४ ॥

उत्कर्षसम आदि जाति-प्रयोग का समाधान—इन जातियों का प्रयोग किये-जाने पर इनका समाधान किसप्रकार होना चाहिए ? सूत्रकार ने बताया—

किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥ ५ ॥ (४६८)

[किञ्चित्साधर्म्यात्] किसी एक समानधर्म के होने से [उपसंहारसिद्धेः] अभिमत पक्ष का उपसंहार-निगमन निश्चित होजाने के कारण [वैधर्म्यात्] अन्य (अनभिमत-अवाञ्छनीय) धर्म का सहारा लेकर [अप्रतिषेधः] पर-पक्ष का प्रतिषेध करना असंगत है।

जो वस्तुतत्त्व—अथवा पदार्थ की जो स्थिति—प्रमाण से सिद्ध है, उसका अपलाप एवं उपेक्षा कियाजाना संगत नहीं होता। किसी निर्धारित साधर्म्य से उपमान प्रमाण प्रवृत्त होता है—'यथा गौस्तथा गवयः'—जैसी गाय है वैसा गवय होता है। गो-गवयसादृश्य किन्हीं निर्धारित समान अंशों पर आधारित रहता है। ऐसी दशा में गाय और गवय के धर्मभेद के आधार पर उस सादृश्य को चुनौती नहीं दीजासकती।

इसीप्रकार जो अनुमान-वाक्य सद्धेतु और निर्दोष दृष्टान्त आदि सामर्थ्य से युक्त है, उसमें पक्ष एवं दृष्टान्त के किसी आंशिक वैधर्म्य से दोष का उद्भावन करना युक्त नहीं मानाजासकता। ऐसा प्रतिषेध स्वयं मूलतः दोषपूर्ण रहता है। उससे ऐसे साध्य का प्रतिषेध सम्भव नहीं, जो सद्हेतु एवं दृष्टान्त के बल पर खड़ा हो।

उत्कर्षसम के उदाहरण में स्पर्श के अभाव से आत्मा में सक्रियता के अभाव का आपादन कियागया। सक्रियता का प्रयोजक 'क्रियाहेतुगुणयोग' है। स्पर्श के अभाव से उसमें कोई बाधा नहीं आती। मन में स्पर्श का अभाव होने पर सक्रियता प्रमाणित है। अपकर्षसम के उदाहरण में लोष्ट की अविभुता से आत्मा में अविभुता का आपादन कर उसके विभुत्व-धर्म का अपकर्ष कियागया। वह असंगत है, क्योंकि पक्ष और दृष्टान्त में सर्वात्मना साधर्म्य होना सम्भव नहीं होता। तब लोष्ट की तरह आत्मा को जड़ भी कहाजासकता है, जो सर्वथा अप्रामाणिक है।

वर्ण्यसम और अवर्ण्यसम जातियों के प्रसंग में जो पक्ष और दृष्टान्त में धर्मविपर्यास का [वर्ण्य-साध्य में अवर्ण्य-दृष्टान्त का तथा अवर्ण्य-दृष्टान्त में वर्ण्य-साध्य का] निर्देश करना भी सर्वथा अनुपपन्न है; क्योंकि जब सहेतुक दृष्टान्त-बल से पक्ष में साध्य की सिद्धि होजाती है, तब पक्ष में साध्याभाव का निर्देश करना किसीप्रकार प्रामाणिक नहीं कहाजासकता। इसीकारण विकल्पसम जाति का निर्देश भी अनुपपन्न है। दृष्टान्त में साध्यधर्म का निश्चय होने के कारण वहाँ साध्यसम जाति की उद्भावना करना निराधार होजाता है॥ ५॥

वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम और साध्यसम जाति-प्रयोगों का आचार्य सूत्रकार ने अन्य समाधान प्रस्तुत किया—

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः॥ ६॥ (४६९)

[साध्यातिदेशात्] साध्य के अतिदेश से (दृष्टान्त में साध्यधर्म के प्रत्यक्ष-गृहीत होने से [च] तथा [दृष्टान्तोपपत्तेः] दृष्टान्त के उपपन्न-युक्तियुक्त होने के कारण।

वर्ण्य, अवर्ण्य, साध्यसम जाति के प्रयोगों में विभिन्न प्रकार से दृष्टान्त की अनुपपन्नता प्रकट कीजाती है। आत्मा की सक्रियता को सिद्ध करने के लिए सक्रिय लोष्ट का दृष्टान्त दियागया। लोष्ट की सक्रियता प्रत्यक्ष से देखीजाती है, उसकी बाधा किसीप्रकार सम्भव नहीं। जिस वस्तुतत्त्व के विषय में लौकिक (साधारणजन) एवं परीक्षकों (विवेचक विद्वानों) का बुद्धिसाम्य रहता है, किसी एक पदार्थ को सभी जन उसीरूप में देखते व जानते हैं, सन्दिग्ध अर्थ की सिद्धि के लिए दृष्टान्तरूप से उसका अतिदेश कियाजाता है। इसप्रकार सर्वथा निश्चित पदार्थ की दृष्टान्तरूपता के उपपन्न होने पर उसमें संदिग्ध साध्य धर्म का अति-देश करना किसीप्रकार प्रामाणिक नहीं कहाजासकता॥ ६॥

प्राप्तिसम-अप्राप्तिसम जाति—प्राप्तिसम एवं अप्राप्तिसम जाति के प्रयोग का प्रकार सूत्रकार ने बताया—

प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याऽविशिष्टत्वादप्राप्त्या-ऽसाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ॥ ७॥ (४७०)

[प्राप्य] प्राप्त होकर–संयुक्त होकर [साध्यम्] साध्य को [अप्राप्य] विना संयुक्त हुए [वा] अथवा [हेतोः] हेतु के, [प्राप्त्या] प्राप्ति से [अविशिष्टत्वात्] समान होने के कारण (दोनों संयुक्त द्रव्यों के) [अप्राप्त्या] विना संयोग के [असाधकत्वात्] साधक न होने से [प्राप्त्यप्राप्तिसमौ] प्राप्तिसम तथा अप्राप्तिसम जातिप्रयोग यथाक्रम समझने चाहियें।

'प्राप्ति' पद का अर्थ है–संयोग अथवा सम्बन्ध। वादी के द्वारा अपने पक्ष की स्थापना करदेने पर जब प्रतिवादी देखता है कि इसका सदुत्तर देना सरल नहीं, तो वह पराजय से बचने के लिए जाति का प्रयोग करता है। वह जिज्ञासा करता है--हेतु साध्य से संयुक्त होकर साध्य को सिद्ध करता है, अथवा विना सम्बन्ध के? यदि पहला कथन मानाजाय, तो संयुक्त दो द्रव्य परस्पर समान हैं, तो कौन किसका साध्य हो, और कौन किसका साधन। उनमें से एक हेतु मानाजाय और दूसरा साध्य; इसमें कोई प्रमाण नहीं? संयुक्त धूम और अग्नि संयोग के आधार पर दोनों समान हैं। यदि इनमें धूम को हेतु और अग्नि को साध्य मानाजाता है, तो अग्नि को हेतु और धूम को साध्य भी मानाजाना चाहिये; परन्तु ऐसा सम्भव नहीं होता, अतः साध्य को प्राप्त होकर हेतु उसका साधक होता है, यह कथन असंगत है। यह प्राप्ति से प्रतिषेध कियेजाने के कारण 'प्राप्तिसम' जाति का प्रयोग है।

यदि साध्य को अप्राप्त होकर हेतु साध्य का साधक मानाजाता है, तो यह सम्भव नहीं। तब तो विना सम्बन्ध के कोई भी किसीका साधक होजाय। पदार्थों से असम्बद्ध हुआ प्रकाश कभी उनको प्रकाशित नहीं करसकता। इसप्रकार हेतु की अप्राप्ति से कियागया प्रतिषेध 'अप्राप्तिसम' जाति का प्रयोग है॥ ७॥

प्राप्तिसम-अप्राप्तिसम जाति का उत्तर—प्राप्तिसम-अप्राप्तिसम जाति-प्रयोगों का उत्तर किसप्रकार दियाजाना चाहिये, आचार्य सूत्रकार ने बताया—

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः॥ ८॥ (४७१)

[घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्] घट आदि का निर्माण–साधनों के सम्बद्ध होने पर–देखेजाने से, [पीडने] कष्ट देने में (दूरस्थित व्यक्ति को) [च] तथा [अभिचारात्] अभिचार-प्रक्रिया से, [अप्रतिषेधः] उक्त प्रतिषेध अयुक्त है।

साध्य को प्राप्त होकर हेतु साध्य का साधक होता है, अथवा अप्राप्त होकर? यह दोनों प्रकार से कियागया प्रतिषेध अयुक्त है; क्योंकि कारण यथावसर दोनों प्रकार से कार्य के साधक होते हैं। कर्त्ता-कुलाल, करण-दण्ड चक्र आदि साधन उपादान-तत्त्व मिट्टी से सम्बद्ध होकर घट-कार्य को उत्पन्न करते हैं। धूम और अग्नि समानरूप में संयुक्त होने पर हेतु वही होगा, जो व्याप्य

होगा, अर्थात् साध्य के साथ जिसकी अव्यभिचरित व्याप्ति सम्भव होगी। 'जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है' इस व्याप्ति में व्यभिचार नहीं है। धूम और अग्नि का परस्पर कार्य-कारणभाव है। धूम-कार्य का अग्नि-कारण के बिना होना सम्भव नहीं। अतः जहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि का होना आवश्यक है, तब धूम-हेतु से साध्य अदृश्य अग्नि की सिद्धि होजाती है। इसीकारण धूम हेतु है, अग्नि साध्य। परन्तु अग्नि धूम का व्यभिचारी है, दहकते अंगार आदि में अग्नि धूम के बिना रहता है; अतः धूम साध्य के लिए अग्नि हेतु नहीं होसकता। इस-प्रकार हेतु की प्राप्ति से कियागया प्राप्तिसम प्रतिषेध असंगत है।

हेतु की अप्राप्ति से कियागया प्रतिषेध भी अयुक्त है, क्योंकि कहीं हेतु साध्य को प्राप्त न होकर उसे सिद्ध करदेता है। सूत्र के 'अभिचार' पद का अर्थ लोकभाषा में जादू-टोना आदि समझाजाता है। लौकिक संस्कृत वाङ्मय में उक्तार्थक प्रयोग इस पद का द्रष्टव्य है।[1] 'पीडन' पद का अर्थ कष्ट पहुँचाना है। दूरस्थित प्रदेश में अनुष्ठित आभिचारिक प्रयोग अनुष्ठाता के अन्यत्र अवस्थित शत्रु को कष्ट पहुँचाता अथवा नष्ट करदेता है। इस प्रसंग में साधन (-आभिचारिक प्रयोग) साध्य (शत्रुदेश) को प्राप्त हुए बिना शत्रुनाशरूप कार्य-साध्य को निष्पन्न करदेता है। अतः अप्राप्ति से कियागया प्रतिषेध भी अयुक्त है। वस्तुतः साध्य-सिद्धि के लिए परस्पर साध्य-साधकभाव का होना आवश्यक है; सम्बन्ध का होना इतना अधिक अपेक्षित नहीं ॥ ८ ॥

प्रसङ्गसम, प्रतिदृष्टान्तसम जाति—क्रमप्राप्त 'प्रसंगसम' तथा 'प्रति-दृष्टान्तसम' जाति-प्रयोगों का स्वरूप आचार्य सूत्रकार ने बताया—

दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ ॥ ९ ॥ (४७२)

[दृष्टान्तस्य] दृष्टान्त के [कारणानपदेशात्] कारण का कथन न करने से (कियागया प्रतिषेध प्रसंगसम है); [प्रत्यवस्थानात्] प्रतिषेध करने से [च] तथा [प्रतिदृष्टान्तेन] प्रतिदृष्टान्त के द्वारा (प्रतिदृष्टान्तसम है); [प्रसंगप्रति-दृष्टान्तसमौ] प्रसंगसम और प्रतिदृष्टान्तसम (जाति-प्रयोग हैं, यथाक्रम)।

वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है-आत्मा सक्रिय है; क्रियाहेतुगुण-वाला होने से; लोष्ट के समान। इसपर प्रतिवादी जाति का प्रयोग करता है-

१. द्रष्टव्य, शिशुपालवध काव्य, ७ । ५८ ॥ वैदिक साहित्य में 'अभिचारमन्त्र' अभिचारहोम, अभिचारयज्ञ' आदि पदों का प्रयोग द्रष्टव्य है। 'श्येनेन अभिचरन् यजेत' ऐसा वाक्य छात्रावस्था से स्मृत अन्वेष्य है। ऐसे आभि-चारिक प्रयोग को ग्रामीण भाषा में 'मूठ चलाना' कहाजाता है। कहीं कियागया ऐसा प्रयोग दूरस्थ व्यक्ति को कष्ट दे देता है।

आत्मा अथवा लोष्ट क्रियाहेतुगुणवाला है, इसमें क्या हेतु है ? बिना हेतु के यह कैसे मानलियाजाय कि आत्मा अथवा लोष्ट ऐसे हैं ? वादी द्वारा प्रस्तुत हेतु व दृष्टान्त की सिद्धि के लिए आगे हेतु का प्रसंग उठाकर उसकी स्थापना का प्रतिषेध करना 'प्रसंगसम' जाति का प्रयोग है ।

वादी द्वारा प्रयुक्त दृष्टान्त का उसके विरोध में प्रतिदृष्टान्त प्रस्तुत कर प्रतिषेध करना 'प्रतिदृष्टान्तसम' जाति है । वादी ने कहा–आत्मा सक्रिय है; क्रियाहेतुगुणवाला होने से; लोष्ट के समान । प्रतिवादी ने विरोध में प्रतिदृष्टान्त प्रस्तुत कर उसका प्रतिषेध किया–आत्मा निष्क्रिय है; क्रियाहेतुगुणवाला होने से; आकाश के समान । प्रतिवादी से प्रश्न कियागया–आकाश में क्रियाहेतुगुण क्या है ? प्रतिवादी ने उत्तर दिया–आकाश-वायु-संयोग । वायु के साथ आकाश का संयोग क्रियाहेतु गुण है । वायु के साथ संयोग क्रिया का हेतु है, यह बात वायु के साथ वृक्ष आदि का संयोग होने पर स्पष्ट होजाती है । इसप्रकार क्रिया-हेतुगुणवाला होते हुए आकाश निष्क्रिय है; इसीप्रकार आत्मा क्रियाहेतुगुणयोगी होने पर निष्क्रिय होना चाहिये । वादी द्वारा स्थापित पक्ष में साध्याभाव की सिद्धि प्रतिदृष्टान्त द्वारा कियेजाने के कारण यह प्रतिदृष्टान्तसम जाति का प्रयोग है ॥ ९ ॥

प्रसङ्गसम का उत्तर—इनका उत्तर किसप्रकार दियाजाना चाहिये ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

प्रदीपोपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः ॥ १० ॥ (४७३)

[प्रदीपोपादानप्रसंगनिवृत्तिवत्] प्रदीप को देखने के प्रसंग में प्रदीपान्तर की निवृत्ति के समान [तद्-विनिवृत्तिः] हेतु अथवा दृष्टान्त की सिद्धि में अन्य हेतु आदि की निवृत्ति समझलेनी चाहिये ।

प्रदीप को देखने के लिए जैसे अन्य प्रदीप की आवश्यकता नहीं रहती; ऐसे हेतु एवं दृष्टान्त की सिद्धि के लिए अन्य हेतु एवं दृष्टान्त की अपेक्षा नहीं होती । प्रदीप का उपयोग वस्तुओं को देखने के लिए कियाजाता है, परन्तु प्रदीप को देखने की इच्छा होने पर विचारशील व्यक्ति अन्य प्रदीप की तलाश नहीं करता; क्योंकि, प्रदीप–बिना अन्य प्रदीप के सहयोग के–स्वयं प्रकाशित रहता व दीखता है । इसीप्रकार साध्य की सिद्धि के लिए हेतु तथा दृष्टान्त का प्रयोग कियाजाता है । साध्य को सिद्ध करने की क्षमता होने पर हेतु का प्रयोग होता है; अन्यथा हेतुरूप में उसका प्रयोग निरर्थक है । इसलिए हेतु की सिद्धि के लिए हेतु पूछकर आगे प्रसंग चलाने का प्रयास करना अप्रामाणिक है । दृष्टान्त भी किसी साध्य की सिद्धि के लिए तभी प्रस्तुत कियाजाता है, जब लौकिक और परीक्षक दोनों समानरूप से उसकी क्षमता को स्वीकार करते हैं । इस दशा में दृष्टान्त

की सिद्धि के लिए हेतु का पूछना सर्वथा निरर्थक है। प्रसंगसम जाति के प्रयोग का उत्तर इसप्रकार देदेना चाहिये ॥ १० ॥

प्रतिदृष्टान्तसम का उत्तर—प्रतिदृष्टान्तसम जाति के प्रयोग का उत्तर आचार्य सूत्रकार ने बताया—

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाऽहेतुर्दृष्टान्तः ॥ ११ ॥ (४७४)

[प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे] प्रतिदृष्टान्त के साधक होने पर [च] भी [न] नहीं होता है [अहेतुः] असाधक [दृष्टान्तः] दृष्टान्त।

प्रतिदृष्टान्त को यदि अपने साध्य का साधक मानलियाजाता है, तो भी दृष्टान्त की साध्य-साधकता नष्ट नहीं होती। दृष्टान्त और प्रतिदृष्टान्त दोनों का अपने साध्य की सिद्धि के लिए प्रयोग होने पर इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है कि प्रतिदृष्टान्त अपने साध्य को सिद्ध करे, दृष्टान्त न करे। वस्तुतः वह दृष्टान्त अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होता है, जिसके साथ व्याप्तिबल हो। क्रियाहेतुगुणयोगी लोष्ट के समान आत्मा सक्रिय होसकता है, परन्तु क्रियाहेतु-गुणयोगी होते हुए आकाश निष्क्रिय कैसे होगा? इसलिए यदि दृष्टान्त व्याप्ति-बल से युक्त है, तथा प्रतिदृष्टान्त व्याप्तिबल से युक्त न होने के कारण दृष्टान्त का प्रतिषेध नहीं करपाता, तो दृष्टान्त अवश्य अपने साध्य का साधक माना-जायगा। इसप्रकार प्रतिदृष्टान्त जाति का प्रयोग असंगत होजाता है ॥ ११ ॥

अनुत्पत्तिसम जाति—क्रमप्राप्त अनुत्पत्तिसम जाति का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः ॥ १२ ॥ (४७५)

[प्राक्] पहले [उत्पत्तेः] उत्पत्ति से (किसी कार्य की) [कारणाभावात्] कारणों का अभाव रहने से (अन्य के कथन का प्रतिषेध करना) [अनुत्पत्तिसमः] अनुत्पत्तिसम जाति का स्वरूप है।

किसी कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उसके कारणों का अभाव रहता है। कारणों की अविद्यमानता में कार्य की अनुत्पत्ति के आधार पर–वादी द्वारा स्थापित पक्ष में अनित्यत्व का–प्रतिषेध करना अनुत्पत्तिसम जाति का प्रयोग है। वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है–शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा); प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से (हेतु); जो प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है, वह अनित्य होना है, जैसे घट (दृष्टान्त)। प्रत्येक अनित्य पदार्थ की उत्पत्ति के लिए अथवा उसे प्रकाश में लाने के लिए कर्त्ता को प्रयत्न करना पड़ता है। प्रत्यक्ष है–घटनिर्माण के लिए कुम्हार प्रयत्न करता है, तभी घट उत्पन्न होपाता है। ऐसे ही मुख से शब्दोच्चारण करने अथवा घण्टा-घड़ियाल से ध्वनि उत्पन्न करने में कर्त्ता का

प्रयत्न देखाजाता है; तभी शब्द प्रकाश में आता है, इसलिए शब्द को अनित्य मानाजाना चाहिए ।

इसका प्रतिषेध करने की भावना से प्रतिवादी बोला–शब्द को अनित्य कहना युक्त नहीं । कारण यह है–शब्द की तथाकथित उत्पत्ति से पहले उसके कारणों का अभाव है । यदि अभाव न होता, तो शब्द तब सुनाई देता । जिस पदार्थ की उत्पत्ति के कारण नहीं हैं, वह अनित्य नहीं होसकता । फलतः शब्द का नित्य होना प्राप्त होता है । जो नित्य है, उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं । इसलिए प्रयत्न के अनन्तर शब्द की उत्पत्ति बताकर उसे अनित्य कहना असंगत है । इसप्रकार अनुत्पत्ति के सहारे से वादी के पक्ष का प्रतिषेध करना अनुत्पत्तिसम जाति का प्रयोग है ॥ १२ ॥

अनुत्पत्तिसम का उत्तर—इसका उत्तर किसप्रकार दियाजाना चाहिए; आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः ॥ १३ ॥ (४७६)

[तथाभावात्] वैसा होने से [उत्पन्नस्य) उत्पन्न हुए शब्द के [कारणोपपत्तेः] कारणों की उपपत्ति–सिद्धि से [न] नहीं [कारणप्रतिषेधः] कारणों का प्रतिषेध–अभाव ।

जिसको 'शब्द' कहाजाता है, वह उत्पन्न होने पर सम्भव होता है । शब्द का अपने रूप में होना [तथाभाव] तभी सम्भव है, जब वह उत्पन्न होजाता है । क्योंकि वह उत्पन्न हुआ है, इसकारण उसमें प्रयत्नानन्तरीयकता आवश्यकरूप से विद्यमान है । उत्पन्न होना प्रयत्न के विना किसीप्रकार सम्भव नहीं । प्रयत्न शब्दोत्पत्ति का निमित्त है । जब शब्द उत्पन्न है, तब उसमें 'प्रयत्न के अनन्तर होना' इस हेतु का अभाव नहीं कहाजासकता । फलतः शब्द के अस्तित्व को स्वीकार करने पर उसके कारणों की सिद्धि अनायास स्वतः होजाती है । शब्द को मानकर उसके कारण का प्रतिषेध करना सर्वथा असंगत है ॥ १३ ॥

संशयसम जाति—क्रमप्राप्त संशयसम जाति का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात् संशयसमः ॥ १४ ॥ (४७७)

[सामान्यदृष्टान्तयोः] सामान्य (जाति) और दृष्टान्त (वादी द्वारा स्थापित पक्ष में कथित) का [ऐन्द्रियकत्वे] ऐन्द्रियक (इन्द्रियग्राह्य) होना [समाने] समान होने पर (नित्य और अनित्य दोनों के साधर्म्य से कियागया प्रतिषेध) [संशयसमः] संशयसम जाति का प्रयोग है ।

वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है-'शब्द अनित्य है,-प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण,-घट के समान।' जैसे कुम्हार आदि के प्रयत्न के अनन्तर घट उत्पन्न होता है, ऐसे ही उच्चारयिता के प्रयत्न के अनन्तर शब्द की उत्पत्ति जानीजाती है। इसलिए घट के समान शब्द को अनित्य मानना चाहिए।

प्रतिवादी इसका प्रतिषेध करता है-घट के साथ शब्द का साधर्म्य [प्रयत्नानन्तरीयकत्व] होने से घट के समान यदि शब्द को अनित्य मानाजाता है, तो घट के साथ सामान्य (जाति) का भी साधर्म्य-ऐन्द्रियकत्व-देखाजाता है। घट ऐन्द्रियक है, इन्द्रियग्राह्य है, सामान्य भी इन्द्रियग्राह्य होता है।[1] तथा शब्द भी इन्हींके समान इन्द्रियग्राह्य है। तब जैसे प्रयत्नानन्तरीयकत्व साधर्म्य से घट के समान शब्द अनित्य है; उसीप्रकार ऐन्द्रियकत्व साधर्म्य से सामान्य के समान शब्द को नित्य मानना चाहिए। सामान्य ऐन्द्रियक है, नित्य होता है; शब्द भी ऐन्द्रियक होने से नित्य क्यों न मानाजाय?

यहाँ प्रतिवादी के द्वारा-अनित्यत्व-साधक पक्ष के प्रतिषेध में-नित्यत्व-साधक हेतु को प्रस्तुत करके संशय की स्थिति प्रस्तुत करदीजाती है। प्रयत्नानन्तरीयक होने से घट के समान शब्द को अनित्य मानाजाय? अथवा ऐन्द्रियक साधर्म्य से जाति के समान शब्द को नित्य मानाजाय? संशय के आधार पर प्रतिषेध होने के कारण यह 'संशयसम' जाति का प्रयोग है॥ १४॥

संशयसम का उत्तर--इसका उत्तर किसप्रकार दियाजाना चाहिए; आचार्य सूत्रकार ने बताया--

साधर्म्यात् संशये न संशयो वैधर्म्यात् उभयथा वा संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसंगो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ॥ १५ ॥ (४७८)

[साधर्म्यात्] साधर्म्य से [संशये] संशय होने पर [न] नहीं होता [संशयः] संशय [वैधर्म्यात्] विशेष धर्म के जानलेने से, [उभयथा] साधर्म्य-वैधर्म्य दोनों प्रकार से [वा] अथवा [संशये] संशय होने पर [अत्यन्तसंशय-प्रसङ्गः] अत्यन्त संशय का होना प्राप्त होता है, [नित्यत्वानभ्युपगमात्] नित्य होना स्वीकार न कियेजाने से [च] तथा (अथवा-भी) [सामान्यस्य] सामान्य-साधर्म्य-समानधर्म के रहते (भी) [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध करना असंगत है (संशय प्रस्तुत करके)।

---

१. आचार्यों ने व्यवस्था की है-'येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते, तेनैवेन्द्रियेण तद्गता जातिर्गृह्यते'-जिस इन्द्रिय के द्वारा जो वस्तु गृहीत कीजाती है, उसी इन्द्रिय से उस वस्तु में समवेत जाति (सामान्य) का ग्रहण होता है।

आरोह–परिणाह, चढ़ाव-उतार, ऊँचाई-गोलाई आदि साधर्म्य से स्थाणु-पुरुष में सन्देह होजाता है–दूर से झुटपुटे में यह स्थाणु है, अथवा पुरुष है ? ऐसा संशय होजाता है । परन्तु पुरुष के विशेष धर्म–हाथ, पांव, सिर आदि अङ्ग तथा विशेष चेष्टा आदि–से पुरुष का, तथा टेढ़ापन (वक्रता), खोखलापन (कोटर) एवं लता आदि के सान्निध्यरूप विशेष धर्म से स्थाणु का निश्चय होजाता है । तब समानधर्म के बने रहने पर भी संशय का उच्छेद होजाता है । तात्पर्य है–साधर्म्य तभी तक संशय को उत्पन्न करसकता है, जबतक विशेषधर्म का ज्ञान नहीं होता । विशेषधर्म का ज्ञान होजाने पर संशय निवृत्त होजाता है । यदि उस दशा में साधर्म्य के बलपर संशय होना मानाजाय, तो संशय कभी निवृत्त न होगा । क्योंकि, स्थाणु-पुरुष के समानधर्म तो सदा बने रहते हैं ।

इसीप्रकार प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होना शब्द का विशेषधर्म है । नित्य जाति तथा अनित्य घट आदि में रहनेवाला इन्द्रियग्राह्यता धर्म समानधर्म है । इस साधर्म्य के रहने पर भी जब शब्द के इस विशेषधर्म का ज्ञान होजाता है कि वह प्रयत्न के अनन्तर आत्मलाभ करता है, तब इस ज्ञात विशेषधर्म के बल पर–साधर्म्य के रहते भी–शब्द का नित्य होना स्वीकार नहीं कियाजासकता । उस दशा में विशेषधर्म का ज्ञान होजाने से समानधर्ममूलक संशय सिर ही नहीं उठापाता । फलतः साधर्म्य से उक्त प्रकार संशय को उभारकर प्रतिषेध करना असंगत है ॥१५॥

प्रकरणसम जाति—आचार्य ने क्रमप्राप्त 'प्रकरणसम' जाति का लक्षण बताया—

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ॥ १६ ॥ (४७९)

[उभयसाधर्म्यात्] नित्य-अनित्य दोनों के साधर्म्य से (एवं दोनों के वैधर्म्य से भी) [प्रक्रियासिद्धेः] प्रकरण के चालू बने रहने से (चर्चा की जो स्थिति रहती है, वह) [प्रकरणसमः] प्रकरणसम नामक जाति का स्वरूप है ।

सूत्र में 'प्रक्रिया' पद का अर्थ है–नित्य और अनित्य के साधर्म्य से पक्ष तथा प्रतिपक्ष को प्रवृत्त करना । एक वादी अपने पक्ष को प्रस्तुत करता है–'शब्द अनित्य है,–प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण,–घट के समान ।' यह अनित्य साधर्म्य से पक्ष प्रवृत्त कियागया । दूसरा प्रतिवादी अपने प्रतिपक्ष को प्रस्तुत करता है–'शब्द नित्य है,–श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होने के कारण; जो श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होता है, वह नित्य होता है, जैसे शब्दत्व जाति । यह नित्य साधर्म्य से पक्ष प्रवृत्त कियागया । यहाँ अनित्य साधर्म्य से कहागया पहला हेतु प्रकरण को सम्पन्न नहीं करता, पूरा नहीं करता, अथवा समाप्त नहीं करता । प्रकरण चालू रहने से अर्थ का निर्णायक नहीं होता । ठीक यही स्थिति नित्य

साधर्म्य से कहेगये हेतु में समझनी चाहिए। इसप्रकार प्रकरण को अनिर्णयावस्था में चलाते रहने की प्रवृत्ति से जो परस्पर एक-दूसरे का प्रतिषेध प्रस्तुत कियाजाता है, वह 'प्रकरणसम' जाति का प्रयोग है।

सूत्र में 'साधर्म्य' पद 'वैधर्म्य' का उपलक्षण समझना चाहिए। तब नित्य और अनित्य के वैधर्म्य से प्रकरण को चालू रखना भी 'प्रकरणसम' जाति-प्रयोग की सीमा में आता है। जैसे—शब्द नित्य नहीं है,—कृतक होने से नित्य के साथ वैधर्म्य के कारण; जो कृतक होने से नित्य के साथ वैधर्म्य रखता है, वह नित्य नहीं होता, जैसे घट। यह नित्य वैधर्म्य से प्रकरण प्रवृत्त कियागया। इसीप्रकार दूसरा पक्ष होगा—शब्द अनित्य नहीं है,—स्पर्शरहित होने से अनित्य के साथ वैधर्म्य के कारण; जो स्पर्शरहित होता हुआ अनित्य के साथ वैधर्म्य रखता है, वह अनित्य नहीं होता, जैसे शब्दत्व जाति। यह अस्पर्श है, और अनित्य के साथ स्पर्शराहित्यरूप इसका वैधर्म्य है। जो नित्य नहीं होता, वह स्पर्शवाला होता है, अथवा स्पर्शवाले में रहता है। अतः अस्पर्श होने से अनित्य के साथ वैधर्म्य के कारण शब्द अनित्य नहीं मानाजाना चाहिए। यह अनित्य वैधर्म्य से प्रकरण प्रवृत्त कियागया।

उक्त विवेचन के अनुसार प्रकरणसम जाति का प्रयोग चार प्रकार से होता है—१. अनित्य साधर्म्य से पक्ष का प्रवृत्त कियाजाना, २. नित्य साधर्म्य से कियाजाना, ३. नित्य वैधर्म्य से, तथा ४. अनित्य वैधर्म्य से पक्ष का प्रवृत्त कियाजाना।

साधर्म्य-वैधर्म्यसम एवं संशयसम जातिप्रयोगों के साथ प्रकरणसम जाति के अभेद की आशंका करना युक्त न होगा, क्योंकि प्रकरणसम जाति के प्रयोग में प्रतिवादी इस भावना से प्रवृत्त होता है कि मुझे अपने पक्ष के निश्चयपूर्वक उपपादन द्वारा वादी के पक्ष में दूषण प्रस्तुत करना है; परन्तु साधर्म्य-वैधर्म्यसम तथा संशयसम जाति के प्रयोगों में वादी द्वारा स्थापित पक्ष के अनुरूप प्रतिवादी अपना पक्ष स्थापित कर परपक्ष में दूषण प्रस्तुत करता है, यह कहता हुआ कि तुम्हारा पक्ष स्वीकार कियाजाय, हमारा न कियाजाय, इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है। इन प्रयोगों में प्रतिपक्ष के निश्चय से प्रतिवादी प्रवृत्त नहीं होता। यही इनमें भेद है।

संशयसम के साथ प्रकरणसम का यह भी भेद है कि संशयसम में एक ही व्यक्ति किसी पक्ष की स्थापना कर उसमें अन्य हेतु के आधार पर संशय की उद्भावना करसकता है, परन्तु प्रकरणसम में पृथक् दो व्यक्ति अपने-अपने पक्ष का उपपादन करते हैं॥ १६॥

प्रकरणसम का उत्तर—प्रकरणसम जाति का प्रयोग होने पर उसका उत्तर किसप्रकार दियाजाना चाहिए, सूत्रकार ने बताया—

प्रतिपक्षात् प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः ॥ १७ ॥ (४८०)

[प्रतिपक्षात्] प्रतिपक्ष से (अन्य पक्ष के आश्रय से) [प्रकरणसिद्धेः] प्रकरण की सिद्धि होने के कारण [प्रतिषेधानुपपत्तिः] प्रतिषेध अनुपपन्न है (पर-पक्ष का); [प्रतिपक्षोपपत्तेः] प्रतिपक्ष (पर-पक्ष) के स्वीकार कियेजाने से।

प्रकरण का चालू रहना पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों की स्वीकृति पर निर्भर है। वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है। अनन्तर प्रतिवादी अपने पक्ष की स्थापना कर प्रकरण को चालू रख अनिर्णय की घोषणा करता हुआ अन्य पक्ष के प्रतिषेध को प्रकट करता है। यह प्रतिषेध युक्त नहीं है, क्योंकि वादी द्वारा स्थापित पक्ष को स्वीकार किये बिना प्रतिवादी द्वारा स्थापित पक्ष से प्रकरण का चालू रहना सम्भव न होगा। 'प्रकरण चालू है' यह बात प्रतिपक्षी द्वारा तभी कहीजासकती है, जब वह वादी द्वारा स्थापित पक्ष के अस्तित्व को स्वीकार करता है। जब उसे स्वीकार करलिया, तो प्रतिषेध कैसा? स्वीकार और प्रतिषेध दोनों परस्पर-विरुद्ध हैं। यदि पर-पक्ष स्वीकार है, तो प्रतिषेध नहीं। यदि पर-पक्ष प्रतिषिद्ध है, तो प्रकरण को चालू कहना सम्भव नहीं। अनिर्णय में प्रकरण का चालू रहना सम्भव होता है। यदि पर-पक्ष प्रतिषिद्ध होगया, तो अप्रतिषिद्ध शेष पक्ष निर्णय की स्थिति को सन्मुख लादेता है; तब तत्त्व का निर्धारण होजाने पर प्रकरण समाप्त मानाजायगा। इसप्रकार प्रकरणसम जाति के प्रयोग से परपक्ष का प्रतिषेध कहना असंगत है ॥ १७ ॥

अहेतुसम जाति—क्रमप्राप्त 'अहेतुसम' जाति-प्रयोग का स्वरूप आचार्य सूत्रकार ने बताया—

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ॥ १८ ॥ (४८१)

[त्रैकाल्यासिद्धेः] तीनों कालों में सिद्धि न होने से [हेतोः] हेतु की [अहेतुसमः] अहेतुसम जाति है।

अनुमान-प्रमाण के पञ्चावयव वाक्य में साध्य की सिद्धि के लिए हेतु का प्रयोग कियाजाता है। यहाँ ज्ञातव्य है–साध्य का साधन हेतु साध्य से पहले होता है? या पीछे? अथवा दोनों साथ-साथ होते हैं? इनमें से कोई बात बनती प्रतीत नहीं होती। यदि हेतु को पहले मानाजाय, तो साध्य के अभाव में वह साधन किसका होगा? जब साध्य नहीं, तो विद्यमान हेतु सिद्ध किसे करेगा? तात्पर्य है–तब हेतु का होना निरर्थक है। यदि हेतु पीछे होता है, साध्य पहले से विद्यमान है, तब हेतु अनावश्यक है। जिसके लिए हेतु का प्रयोग होना है, वह पहले से विद्यमान है। फिर उसे 'साध्य' कहना भी असंगत है; हेतु के विना वह सिद्ध है। यदि दोनों एकसाथ होते हैं, तो उनमें कौन किसका साधन हो, कौन

किसका साध्य ? एकसाथ अस्तित्व में आई वस्तुओं में परस्पर साध्य-साधनभाव नहीं होसकता। उसके लिए वस्तुओं के अस्तित्व में पौर्वापर्य आवश्यक है। इस-प्रकार अहेतु-स्थिति का आश्रय लेकर पर-पक्ष का प्रतिषेध करना 'अहेतुसम' जाति का स्वरूप है ॥ १८ ॥

अहेतुसम का उत्तर—उक्त जाति-प्रयोग का उत्तर किसप्रकार दियाजाना चाहिए, अग्रिम दो सूत्रों द्वारा आचार्य ने बताया—

न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ॥ १९ ॥ (४८२)

[न] नहीं युक्त [हेतुतः] हेतु से [साध्यसिद्धेः] साध्य की सिद्धि होने के कारण [त्रैकाल्यासिद्धिः] तीनों कालों में असिद्धि (हेतु की)।

साध्य से पहले, पीछे अथवा युगपत् तीनों कालों में हेतु की असिद्धि है; यह कहना युक्त नहीं; क्योंकि साध्य की सिद्धि हेतु से होती है। उत्पद्यमान वस्तु की उत्पत्ति तथा ज्ञेय वस्तु का जानना कारणों के विना नहीं होसकता। किसी कार्य अथवा साध्य की सिद्धि कारण एवं हेतु के विना असम्भव है। जीवन में प्रतिदिन ऐसी स्थिति को प्रत्यक्ष से देखाजाता है। इसलिए कार्य या साध्य से पहले हेतु का होना आवश्यक है।

यह जो कहागया—साध्य से पहले हेतु के होने पर साध्य के अभाव में वह हेतु किसका साधन करता है ? इसका उत्तर स्पष्ट है। विद्यमान हेतु उसीका साधन होता है, जो साध्य है, जो अभी उत्पन्न होनेवाला है, अथवा सिद्ध होने एवं ज्ञात होने की अपेक्षा रखता है। साध्य, उत्पाद्य, ज्ञेय वस्तु का साधन, उत्पादन, ज्ञान हेतु से होता है, अतः हेतु का साध्य आदि से पहले होना आवश्यक है। इसप्रकार हेतु की त्रैकाल्य में असिद्धि न होने से 'अहेतुसम' जाति का प्रयोग असंगत है ॥ १९ ॥

हेतु के व्यवस्थित होने से उक्त प्रतिषेध अयुक्त है, सूत्रकार ने बताया—

प्रतिषेधानुपपत्तेश्च प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ॥ २० ॥ (४८३)

[प्रतिषेधानुपपत्तेः] प्रतिषेध की अनुपपत्ति-असिद्धि से [च] तथा (अथवा-भी) [प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः] प्रतिषेद्धव्य का प्रतिषेध नहीं रहता।

वादी पक्ष की स्थापना करता है—शब्द अनित्य है,—प्रयत्न के अनन्तर होने से,—घट के समान। जातिवादी ने 'अहेतुसम' जाति का प्रयोग कर उसका प्रतिषेध किया। गत सूत्रद्वारा उस प्रतिषेध को अनुपपन्न-असंगत बताया। इसप्रकार जातिरूप प्रतिषेध के अनुपपन्न होने से प्रतिषेद्धव्य—वादी द्वारा स्थापित पक्ष—का प्रतिषेध नहीं रहता। फलतः शब्द का अनित्य होना उपपन्न होजाता है ॥ २० ॥

अर्थापत्तिसम जाति—क्रमप्राप्त अर्थापत्तिसम जाति का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ॥ २१ ॥ (४८४)

[अर्थापत्तितः] अर्थापत्ति के द्वारा [प्रतिपक्षसिद्धेः] प्रतिपक्ष की सिद्धि से (क्रियागया प्रतिषेध) [अर्थापत्तिसमः] 'अर्थापत्तिसम' नामक जाति है ।

वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है- शब्द अनित्य है,-प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से,-घट के समान । जातिवादी जब अर्थापत्ति के द्वारा प्रतिपक्ष को सिद्ध करता हुआ वादी द्वारा स्थापित पक्ष का प्रतिषेध करता है, तब वह 'अर्थापत्तिसम' जाति का प्रयोग है । जातिवादी कहता है-यदि अनित्यता के साधक प्रयत्नानन्तरीय-साधर्म्य से शब्द अनित्य है, तो अर्थापत्ति के आधार पर ज्ञात होता है-नित्यता के साधक अस्पर्शत्व साधर्म्य से शब्द नित्य होना चाहिए। शब्द का अस्पर्शत्व-साधर्म्य नित्य आकाश के साथ है- शब्द नित्य है, अस्पर्श (स्पर्शरहित) होने से, आकाश के समान । अर्थापत्ति के द्वारा प्रतिषेध होने से यह 'अर्थापत्तिसम' जाति का प्रयोग है ॥ २१ ॥

अर्थापत्तिसम का उत्तर—इसका उत्तर किसप्रकार दियाजाना चाहिए, आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ॥ २२ ॥ (४८५)

[अनुक्तस्य] अनुक्त-असाधित की [अर्थापत्तेः] अर्थापत्ति से [पक्षहानेः] पक्षहानि [उपपत्तिः] उपपन्न होजाती है [अनुक्तत्वात्] अनुक्त-असिद्ध होने से [अनैकान्तिकत्वात्] अनैकान्तिक होने से [च] भी [अर्थापत्तेः] अर्थापत्ति के ।

वादी द्वारा हेतुपूर्वक शब्द की अनित्यता सिद्ध करदेने पर जातिवादी उसका प्रतिषेध केवल अर्थापत्ति के बल पर करता है; स्वयं पञ्चावयव वाक्य द्वारा शब्द की नित्यता को सिद्ध नहीं करता। वह इस बात की ओर भी ध्यान नहीं देता कि स्थापित पक्ष का [शब्द के अनित्यत्व का] प्रतिषेध करने में अर्थापत्ति समर्थ-सफल है, या नहीं ? यदि अर्थापत्ति का प्रयोग करदेने पर वह अपने प्रयोजन को पूरा नहीं करपाती, तो उसका प्रयोग निरर्थक है । इससे तो उलटी नित्यत्व पक्ष की हानि प्राप्त होजाती है। सद्धेतु के द्वारा शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होने से अर्थापत्ति के आधार पर यह प्राप्त होता है कि शब्द का नित्यत्व पक्ष असिद्ध है। क्योंकि उसे स्वतन्त्र पञ्चावयव वाक्य द्वारा सिद्ध नहीं कियागया ।

इसके अतिरिक्त अर्थापत्ति नित्य-अनित्य दोनों पक्षों में समान होने से अनैकान्तिक है। यदि अस्पर्श होने के कारण नित्य-साधर्म्य से आकाश के समान

शब्द नित्य है, तो इस अर्थ से आपन्न होता है–प्रयत्नानन्तरीयकत्व अनित्य-साधर्म्य से शब्द अनित्य है। यह अर्थापत्ति नियम से–एकान्तरूप से किसी एक अर्थ को सिद्ध करे, ऐसा नहीं है। यदि कोई कहे–ठोस पत्थर नीचे गिरजाता है; इससे कोई यह अर्थापत्ति नहीं निकालसकता कि तरल जलों का गिरना नहीं होता। अर्थापत्ति का प्रामाण्य वहीं होता है, जहाँ अनुक्त अर्थ का ऐकान्तिकरूप से बोध कराने में वह सफल हो। प्रस्तुत प्रसंग में अर्थापत्ति का ऐसा सामर्थ्य दिखाई नहीं देता, अतः शब्द के अनित्यत्व का 'अर्थापत्तिसम' जाति के रूप में प्रतिषेध असंगत है ॥ २२ ॥

अविशेषसम जाति—क्रमप्राप्त 'अविशेषसम' जाति के प्रयोग का प्रकार आचार्य सूत्रकार बताता है—

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात् सद्भावोपपत्तेर-विशेषसमः ॥ २३ ॥ (४८६)

[एकधर्मोपपत्तेः] एक धर्म की उपपत्ति-सिद्धि से [अविशेषे] अविशेष-समानता का कथन होने पर (किन्हीं पदार्थों में), [सर्वाविशेषप्रसङ्गात्] सब पदार्थों में अविशेष-समानता की प्राप्ति से [सद्भावोपपत्तेः] सद्भाव-सत्त्वरूप एक धर्म की उपपत्ति-सिद्धि के कारण (जो प्रतिषेध स्थापित पक्ष का कियाजाता है, वह) [अविशेषसमः] अविशेषसम नामक जाति का स्वरूप है।

वादी अपने पक्ष को स्थापित करता है–शब्द अनित्य है,-प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से,–घट के समान। यहाँ प्रयत्नानन्तरीयकत्व एक धर्म शब्द और घट दोनों में सिद्ध है। इसके अनुसार दोनों में समानता प्रमाणित होती है–दोनों अनित्य हैं। इसपर जातिवादी कहता है–यदि प्रयत्नानन्तरीयकत्व एक धर्म से शब्द और घट की समानता प्रमाणित होती है, तो सदभाव-सत्त्वरूप एक धर्म है, जो समस्त पदार्थों में सिद्ध है, निश्चितरूप से विद्यमान रहता है। तब इसके अनुसार सब पदार्थ समान प्राप्त होते हैं। सब नित्य हों अथवा सब अनित्य। पर ऐसा सम्भव नहीं; इसलिए किसी एक धर्म के आधार पर अनेक पदार्थों को अविशेष कहना असंगत है। इसप्रकार सबके अविशेषप्रसङ्ग का निर्देश कर स्थापित पक्ष का प्रतिषेध करने के कारण यह 'अविशेषसम' जाति का प्रयोग है ॥ २३ ॥

अविशेषसम का उत्तर—आचार्य सूत्रकार इसके उत्तर देने का प्रकार बताता है—

क्वचिद्धर्मानुपपत्तेःक्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ २४ ॥ (४८७)

[क्वचित्] कहीं [धर्मानुपपत्तेः] धर्म की अनुपपत्ति-असिद्धि से [क्वचित्]

कहीं [च] तथा [उपपत्तेः] सिद्धि से (धर्म की), [प्रतिषेधाभावः] प्रतिषेध का अभाव है (उक्त प्रतिषेध युक्त नहीं है)।

पक्ष और दृष्टान्त-शब्द तथा घट में-प्रयत्नानन्तरीयकत्व एक धर्म की निश्चित विद्यमानता से-अनित्यत्वरूप अविशेष सिद्ध होता है, जो एक अतिरिक्त धर्म है। सद्भाव-सत्त्वरूप धर्म की सब पदार्थों में विद्यमानता ऐसा अन्य धर्म उन पदार्थों में कोई नहीं है जिसे, अविशेष-रूप में बताया जासके, जैसा स्थापित पक्ष में अनित्यत्व धर्म है। तात्पर्य है-जहाँ धर्मविशेष की उपपत्ति से कोई धर्मान्तर अविशेष प्रमाणित होता है, वहाँ उसे स्वीकार करना चाहिये; जहाँ ऐसा अविशेषधर्म अनुपपन्न है, वहाँ वह अस्वीकार्य होगा। यद्यपि समस्त पदार्थों में सद्भाव धर्म विद्यमान रहता है, पर वह उन पदार्थों में अन्य किसी अविशेष धर्म का आपादक नहीं होता। इसलिए ऐसे धर्म के आधार पर स्थापित पक्ष का प्रतिषेध असंगत है।

यदि ऐसा मानाजाता है कि सब पदार्थों में सद्भाव की सिद्धि से उनका 'अनित्य होना' अविशेष प्रमाणित होता है, तो 'सब पदार्थ अनित्य हैं; सद्भाव के कारण' ऐसा पक्ष प्राप्त होता है। इस मान्यता में यह दोष स्पष्ट है-पदार्थ-मात्र का समावेश प्रतिज्ञा-वाक्य में होजाने से उदाहरण के रूप में उल्लेख के लिए कोई पदार्थ शेष नहीं रहता। उदाहरणरहित हेतु साध्य का साधक नहीं होसकता। जिस हेतु के लिए कोई उदाहरण न मिले, वह साध्य के साधन में शिथिल मानाजाता है। प्रतिज्ञा-वाक्य के किसी एक अंश का उदाहरणरूप में प्रस्तुत कियाजासकना अनुपपन्न होता है; क्योंकि जो स्वयं साध्य है, वह उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया जाकर साध्य अर्थ का निश्चायक नहीं होसकता।

सद्भावरूप पदार्थ नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के देखेजाते हैं। नित्य पदार्थ आकाश आदि हैं, अनित्य घट आदि। ऐसी स्थिति में सद्भाव धर्मविशेष हेतु से सब पदार्थों का अनित्यत्व अथवा नित्यत्व-अविशेष कहना अयुक्त है। इसके अतिरिक्त सद्भाव हेतु से जो सबको अनित्य बताना चाहरहा है, उसके विचार से शब्द का अनित्य होना अनायास सिद्ध होगया। इसके अनुसार जातिवादी ने शब्द का अनित्यत्व स्वीकार करलिया; तब जातिप्रयोग से स्थापनावादी के पक्ष का प्रतिषेध कहाँ हुआ? फलतः जाति का यह प्रयोग अनुपपन्न है॥ २४॥

उपपत्तिसम जाति—क्रमप्राप्त 'उपपत्तिसम' जाति का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः॥ २५॥ (४८८)

[उभयकारणोपपत्तेः] दोनों धर्मों के कारणों की उपपत्ति-सिद्धि से (वादी द्वारा स्थापित पक्ष का) प्रतिषेध करना [उपपत्तिसमः] उपपत्तिसम नामक जाति है।

वादी के द्वारा शब्द के अनित्यत्व की स्थापना करने पर प्रतिवादी कहता है—यदि शब्द के अनित्यत्व का कारणधर्म 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' उपपन्न है, सिद्ध है, तो शब्द के नित्यत्व का साधक धर्म 'अस्पर्शत्व' भी उपपन्न है। नित्य और अनित्य दोनों के कारणों की उपपत्ति से प्रतिषेध प्रस्तुत करना 'उपपत्ति-सम' जाति का प्रयोग है।

इसके प्रयोग में प्रतिवादी की भावना यह रहती है कि शब्द के अनित्य होने का कारण यदि सिद्ध है, तो उसके नित्य होने का कारण भी निश्चित है, प्रमाणित है; तब शब्द को अनित्य क्यों मानाजाय ? नित्य क्यों न मानाजाय ? शब्दनित्यत्व के कारण की विद्यमानता में शब्द के अनित्यत्व की निवृत्ति होजानी चाहिये ॥ २५ ॥

उपपत्तिसम का उत्तर—आचार्य सूत्रकार ने 'उपपत्तिसम' जाति के उत्तर देने का प्रकार बताया—

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ॥ २६ ॥ (४८९)

[उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानात्] सिद्धि के कारण को स्वीकार करलेने से (प्रतिषेध्य धर्म की,) [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध करना असंगत है (उस धर्म का)।

'उभयकारणोपपत्तेः' इन पदों द्वारा प्रतिवादी नित्य और अनित्य दोनों धर्मों के कारणों की सिद्धि को स्वीकार करता है। इससे शब्दगत अनित्य धर्म के कारण की युक्तता को उसने स्वीकार किया, यह स्पष्ट है। स्वीकार करके उसका प्रतिषेध करना असंगत है। यदि प्रतिषेध्य धर्म के कारण की उपपत्ति को स्वीकार नहीं करता, तो 'उपपत्तिसम' जाति का प्रयोग सम्भव न होगा। क्योंकि प्रस्तुत जाति का प्रयोग नित्य-अनित्य दोनों धर्मों के कारणों की उपपत्ति (उभयकारणोपपत्तेः) पर निर्भर है।

यदि प्रतिवादी कहना चाहता है कि नित्य धर्म के कारण का उपपादन होने से उसके विरोधी धर्म अनित्यत्व के कारण का प्रतिषेध होजायगा, तो यह दोनों पक्षों के लिए समान है। अनित्यधर्म के कारण का उपपादन होने से उसके विरोधी नित्यधर्म के कारण का प्रतिषेध क्यों न होगा ? ऐसा विरोध किसी एक पक्ष का साधक हो, दूसरे का न हो, इसमें कोई प्रमाण नहीं। इसलिए उक्त जाति-प्रयोग अयुक्त है ॥ २६ ॥

उपलब्धिसम जाति— क्रमप्राप्त 'उपलब्धिसम' जाति का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ॥ २७ ॥ (४९०)

[निर्दिष्टकारणाभावे] प्रथम बतलाये कारण के न होने पर [अपि] भी [उपलम्भात्] उपलब्ध होने से (कार्य के), [उपलब्धिसमः] उपलब्धिसम जाति मानीजाती है।

शब्द अनित्य है, इसकी सिद्धि के लिए वादी ने हेतु का निर्देश किया–प्रयत्न के अनन्तर होने से (–प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्)। प्रयत्न आत्मा का गुण है; जहाँ आत्म-प्रेरित प्रयत्न नहीं रहता, वहाँ शब्द की उत्पत्ति न होनी चाहिये। परन्तु इस निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी शब्द की उत्पत्ति देखीजाती है। तीव्र वायु के आघात से वृक्ष के पत्तों में ध्वनि उत्पन्न होती रहती है। इसीप्रकार कभी वायु के तीव्र वेग से वृक्ष की शाखा टूटजाती है, उससे शब्दविशेष उत्पन्न हुआ उपलब्ध होता है। यहाँ पूर्वनिर्दिष्ट कारण–'प्रयत्न' के अभाव में भी कार्य होता देखाजाता है। प्रस्तुत जाति-प्रयोग के द्वारा प्रतिवादी स्थापित पक्ष में हेतु के अनैकान्तिक दोष का प्रदर्शन करना चाहता है। साधन के अभाव में साध्यधर्म की उपलब्धि से प्रतिषेध कियेजाने के कारण इस जाति-प्रयोग को 'उपलब्धिसम' कहाजाता है ॥ २७ ॥

उपलब्धिसम का उत्तर—इसके उत्तर का प्रकार सूत्रकार ने बताया—

कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २८ ॥ (४६१)

[कारणान्तरात्] अन्य कारण से [अपि] भी [तद्धर्मोपपत्तेः] उस धर्म (अनित्यत्व) की उपपत्ति-सिद्धि होने के कारण [अप्रतिषेधः] उक्त प्रतिषेध अयुक्त है।

वादी द्वारा पक्ष की स्थापना का प्रयोजन शब्द का अनित्यत्व उपपादन करना है। उसके लिए वह 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' हेतु प्रस्तुत करता है, जिससे शब्द का उत्पन्न होना निश्चित होता है। इससे कार्योत्पत्ति के कारण की व्यवस्था निर्धारित नहीं होती कि अमुक कार्य का वही एक कारण है। यदि अन्य कारण से वह कार्य उत्पन्न होता देखाजाता है, तो उसे भी कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं। शब्द संयोग से, विभाग से तथा शब्द से भी उत्पन्न होता देखाजाता[1] है। यदि शब्द के कारण संयोग और विभाग कहीं प्रयत्न-प्रेरित नहीं हैं, तो इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं है। कारण कोई हो, इससे शब्द का अनित्यत्व तो निर्बाध-अक्षुण्ण बना रहता है। तब जातिवादी ने प्रतिषेध क्या किया ?

यहाँ अनैकान्तिक दोष का उद्भावन निराधार है; एक कार्य के अनेक कारणों का होना सम्भव है। समानजातीय कार्य कभी एक कारण से, कभी दूसरे कारण से उत्पन्न होसकता है। इसमें कारण की अवहेलना नहीं होती। कार्य की अनित्यता पूर्व-स्थापना के अनुसार बनी रहती है ॥ २८ ॥

अनुपलब्धिसम जाति—शब्द की अनित्यता को चुनौती देता हुआ प्रतिवादी कहता है–उच्चारण से पहले विद्यमान शब्द-आवरण के कारण सुनाई नहीं

---

१. **वैशेषिक दर्शन, २ । २ । ३१ ॥**

देता। जैसे घट आदि में आवृत जल आदि पदार्थ तथा मकान में आवृत विविध पदार्थ विद्यमान होते दिखाई नहीं देते। इस पर शब्दानित्यत्ववादी कहता है-यदि उच्चारण से पूर्व शब्द के सुनाई न देने का कारण कोई आवरण होता, तो जलादि के आवरण घट आदि के समान वह उपलब्ध होता। अनुपलब्धि से आवरण का अभाव सिद्ध होता है। इसपर प्रतिवादी जाति का प्रयोग करता है सूत्रकार ने उसे सूचित किया—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्ते-रनुपलब्धिसमः ॥ २९ ॥ (४९२)

[तद्-अनुपलब्धेः] आवरण की अनुपलब्धि के [अनुपलम्भात्] उपलब्ध न होने से [अभावसिद्धौ] आवरणानुपलब्धि का अभावसिद्ध होजाने पर [तद्-विपरीतोपपत्तेः] आवरणानुपलब्धि से विपरीत आवरणोपलब्धि की उपपत्ति के कारण (शब्द के अनित्यत्व का कियागया प्रतिषेध) [अनुपलब्धिसमः] अनुप-लब्धिसम जाति है।

प्रतिवादी का तात्पर्य है-उच्चारण से पहले विद्यमान शब्द की अनुपलब्धि का कारण कोई आवरण है, जो बीच में आजाने से शब्द के सुनाई देने में बाधक होजाता है। यदि आवरण की अनुपलब्धि से आवरण का अभाव कहाजाता है, तो आवरण की अनुपलब्धि के उपलब्ध न होने से आवरणानुपलब्धि का अभाव मानना होगा। इससे आवरण का होना उपपन्न होजायगा, जो उच्चारण से पहले शब्द की विद्यमानता को सिद्ध कर उसके अनित्यत्व का बाधक होगा। इसप्रकार आवरणानुपलब्धि को समानरूप में उसकी अनुपलब्धि से प्रतिषेध कियेजाने के कारण इस जाति-प्रयोग का नाम 'अनुपलब्धिसम' है। यदि आवरण की अनुपलब्धि है, तो आवरणानुपलब्धि की भी अनुपलब्धि है। आवरण और आवरणानुपलब्धि में अनुपलब्धि की यही समानता है, जिसके आधार पर प्रतिषेध प्रस्तुत कियागया। 'अनुपलब्धिसम' नाम का यही मूल है ॥ २९ ॥

अनुपलब्धिसम का उत्तर—इस जाति-प्रयोग के उत्तर देने का प्रकार आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३० ॥ (४९३)

[अनुपलम्भात्मकत्वात्] अनुपलम्भरूप होने से [अनुपलब्धेः] अनुपलब्धि के, [अहेतुः] उक्त हेतु अयुक्त है।

उच्चारण आदि प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है,—इस स्थापना को चुनौती देता हुआ प्रतिवादी कहता है-उच्चारण से पहले विद्यमान शब्द के सुनाई देने में आवरण बाधक होजाता है, न सुनने से उसे अविद्यमान समझाजाता है, जो अयुक्त है; इसलिए शब्द को प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने

से अनित्य न समझना चाहिये। इसके प्रतिवाद में अनित्यत्ववादी कहता है-यदि उच्चारण से पूर्व विद्यमान शब्द के सुनाई न देने में कोई आवरण बाधक है, तो वह उपलब्ध होना चाहिये। जो वस्तुतत्त्व है, उसकी उपलब्धि होती है, उससे वस्तु के विद्यमान होने का निश्चय होता है। आवरण क्योंकि उपलब्ध नहीं है, इसलिए उसका अविद्यमान होना प्रमाणित है। तब उच्चारण से पूर्व यदि शब्द विद्यमान हो, तो आवरण के अभाव में अवश्य सुनाई देना चाहिये। ऐसा न होने के कारण शब्द का-प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से--अनित्य होना प्रमाणित होता है।

गतसूत्र में प्रतिवादी ने कहा--आवरण की अनुपलब्धि भी अनुपलब्ध है। तब आवरण का अस्तित्व प्राप्त होजाता है। प्रतिवादी के इस कथन पर प्रस्तुत सूत्र में कहागया-जैसे वस्तुतत्त्वके उपलब्ध होने से उसके अस्तित्व का निश्चय होता है; जो वस्तु नहीं है, उसकी अनुपलब्धि से उसके अभाव का निश्चय होता है। इसलिए आवरण की अनुपलब्धि आवरण के अभाव का निश्चय कराती है। आवरण की अनुपलब्धि का स्वयं अनुपलब्धि प्रतिषेध नहीं करसकती, क्योंकि अनुपलब्धि का विषय स्वयं अनुपलब्धि नहीं होसकता। ऐसी मान्यता आत्मघात की स्थिति को प्रस्तुत करती है। स्वयं अपने को अपने अस्तित्व से हटाना सर्वप्रमाणविरुद्ध है। इसप्रकार आवरण की अनुपलब्धि के बने रहने से आवरण का अस्तित्व पराहत होजाता है। इसलिए गतसूत्र में प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत 'तदनुपलब्धेरनुपलम्भात्' हेतु सर्वथा असंगत है। फलतः प्रयत्नानन्तर उत्पन्न होने से शब्द का अनित्यत्व निर्बाध बनारहता है॥ ३०॥

आचार्य सूत्रकार ने अनुपलब्धिसम जाति-प्रयोग का अन्य प्रकार से समाधान किया—

ज्ञानविकल्पानाञ्च भावाभाव-
संवेदनादध्यात्मम्॥ ३१॥ (४६४)

[ज्ञानविकल्पानाम्] ज्ञान के विभिन्न प्रकारों के [च] तथा [भावाभाव-संवेदनात्] होने न होने की प्रतीति से [अध्यात्मम्] आत्मा में।

आत्मा में विविध प्रकार के ज्ञान होते रहते हैं। उनके विषय में आत्मा को यह प्रत्यय होता है-यह जानता हूँ, और यह नहीं जानता। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, संशय, स्मृति आदि सभी प्रकार के ज्ञानों के विषय में आत्मा को यह प्रतीति होती है कि अमुक विषय का मुझे प्रत्यक्ष, आनुमानिक, आगमिक, संशयात्मक अथवा स्मृतिरूप ज्ञान है, अथवा नहीं है। इसीप्रकार प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को यह अनुभव होता है कि मुझे किसी ऐसे आवरण का ज्ञान नहीं है, जो उच्चारण से पूर्व विद्यमान शब्द के सुनाई देने में बाधक हो। यह सर्वजन-

संवेद्य अनुभव आवरण के अभाव को सिद्ध करता है। इसलिए आवरणानुपलब्धि प्रतिषेध में २९वें सूत्रद्वारा प्रस्तुत कियागया हेतु सर्वथा अनुपपन्न है ॥ ३१ ॥

अनित्यसम जाति—क्रमप्राप्त 'अनित्यसम' जाति का स्वरूप आचार्य सूत्रकार ने बताया—

**साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्व-
प्रसङ्गादनित्यसमः ॥ ३२ ॥** (४९५)

[साधर्म्यात्] साधर्म्य से (अनित्य घट के साथ) [तुल्यधर्मोपपत्तेः] तुल्य धर्म (अनित्यत्व) की सिद्धि से [सर्वानित्यत्वप्रसङ्गात्] सबका अनित्यत्व प्राप्त होने के कारण जो प्रतिषेध कियाजाता है, वह [अनित्यसमः] अनित्यसम जाति है।

घट के साथ शब्द का प्रयत्नानन्तरीय-साधर्म्य होने से यदि घट के समान शब्द को अनित्य मानाजाता है, तो घट के साथ सब पदार्थों का सद्भावरूप साधर्म्य होने से घट के समान सब पदार्थों को अनित्य मानाजाना चाहिए। परन्तु ऐसा मानना अभीष्ट नहीं; क्योंकि सब पदार्थों का अनित्य होना असम्भव है, अन्यथा पदार्थों के कार्य-कारणभाव का विलोप होजायगा, जो सर्वप्रमाणसिद्ध है। इसलिए घट के समान शब्द का अनित्य मानाजाना भी अनिष्ट होगा, अतः वह भी त्याज्य समझना चाहिये। इसप्रकार अनित्य होने के आधार पर-वादी द्वारा स्थापित पक्ष का-कियागया प्रतिषेध 'अनित्यसम' जाति का प्रयोग है ॥ ३२ ॥

अनित्यसम का उत्तर—'अनित्यसम' जाति के प्रयोग का उत्तर किसप्रकार दियाजाना चाहिये ?-आचार्य सूत्रकार ने बताया—

**साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः
प्रतिषेध्यसाधर्म्यात् ॥ ३३ ॥** (४९६)

[साधर्म्यात्] साधर्म्य से [असिद्धेः] असिद्धि यदि मानीजाती है (स्थापित पक्ष की), तो [प्रतिषेधासिद्धिः] प्रतिषेध की भी असिद्धि होजाती है, [प्रतिषेध्यसाधर्म्यात्] प्रतिषेध्य के साथ साधर्म्य से।

वादी द्वारा स्थापित पक्ष-शब्द के अनित्यत्व-का प्रतिवादी ने साधर्म्य के आधार पर पदार्थमात्र की अनित्यता की प्रसक्ति बताकर उसका प्रतिषेध किया। इसलिए वादी का पक्ष 'प्रतिषेध्य' हुआ, और प्रतिवादी का 'प्रतिषेध'। ऐसी स्थिति में वादी उक्त जाति-प्रयोग का उत्तर देता है-यदि जिस-किसी साधर्म्य से-सद्धेतुपूर्वक स्थापित पक्ष का-प्रतिषेध कियाजाना मान्य होता है, तो 'प्रतिषेध' पक्ष का भी 'प्रतिषेध्य' पक्ष के साथ साधर्म्य है। वह साधर्म्य क्या है ? प्रतिवादी द्वारा पूछेजाने पर वादी बताता है- प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्य द्वारा हमने अपने पक्ष की स्थापना की। आप उसका प्रतिषेध पंचावयववाक्य के प्रयोग द्वारा करेंगे। तब 'पञ्चावयव वाक्य से युक्त होना' प्रतिषेध्य और प्रतिषेध

दोनों पक्षों का साधर्म्य है। जाति के प्रयोग में आपके द्वारा कथित साधर्म्य से यदि शब्द का अनित्यत्व असिद्ध होजाता है; तो प्रतिषेध्य और प्रतिषेध के उक्त साधर्म्य से प्रतिषेध्य की असिद्धि के समान प्रतिषेध को भी असिद्ध मानना होगा। इस आधार पर आपका प्रतिषेध-पक्ष गिर जाने से शब्द का अनित्यत्व-साधक पक्ष सिद्ध रहजायगा। तात्पर्य है–विशिष्ट साधर्म्य नियतधर्म का साधक होता है, यत्किञ्चित् साधर्म्य नहीं।

'अविशेषसम' (सूत्र-२३) और 'अनित्यसम' जाति के प्रयोगों में आपाततः समानता प्रतीत होती है; क्योंकि वहाँ जैसे पदार्थमात्र को घट के समान होने की आपत्ति प्रस्तुत कीगई है, वैसे ही यहाँ है। इनमें भेद यही है–वहाँ समानता के किसी विशेष धर्म का निर्देश नहीं है। परन्तु यहाँ 'अनित्यत्व' विशेष साध्य-धर्म का निर्देश है। इसीलिए वह 'अविशेषसम' और यह 'अनित्यसम' है।

उद्देशसूत्र [५। १। १] के अनुरोध से क्रम का ध्यान रखते हुए प्रथम 'नित्यसम' जाति का, अनन्तर 'अनित्यसम' का लक्षण कियाजाना चाहिये था। इस क्रमविपर्यास का कारण अन्वेष्य है ॥ ३३ ॥

'अनित्यसम' जाति के प्रयोग का सूत्रकार ने अन्य प्रकार से समाधान किया—

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात् तस्य चोभयथा भावान्नाविशेषः ॥ ३४ ॥ (४९७)

[दृष्टान्ते] दृष्टान्त में [च] तथा [साध्यसाधनभावेन] साध्य के साधन-भाव से (साध्यव्याप्यरूप से) [प्रज्ञातस्य] जानेगये (निश्चित कियेगये) [धर्मस्य] धर्म के (कृतकत्व-आदि धर्म के) [हेतुत्वात्] हेतु (साध्य का साधक) होने से [तस्य] उसके (हेतुभाव के) [च] तथा [उभयथा] दोनों प्रकार का (साधर्म्य–वैधर्म्यरूप) [भावात्] होने से [न] नहीं [अविशेषः] समानता (वादी-प्रतिवादी के हेतुओं में)।

यह एक व्यवस्था है—हेतु-धर्म का दृष्टान्त में साध्य के प्रति साधनभाव जानलियाजाता है; अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर साध्य के प्रति हेतु की साधकता को दृष्टान्त में जाँचकर साध्य की सिद्धि के लिए हेतु का प्रयोग कियाजाता है। साधारणरूप में हेतु अन्वय-व्यतिरेकरूप दोनों प्रकार की व्याप्ति से अन्वित होता है। ऐसे हेतु का किसीसे कुछ साधर्म्य तथा किसीसे कुछ वैधर्म्य होना स्वाभाविक है। किसी नियत समानता से साधर्म्य तथा असमानता से वैधर्म्य देखाजाता है। इसप्रकार किसी धर्म के हेतुरूप से प्रस्तुत करने में उसके साधर्म्य-विशेष का आश्रय लियाजाता है; ऐसा नहीं होता कि सर्वथा साधारण-रूप से जिस-किसी भी साधर्म्य को पकड़कर उसके सहारे साध्य की सिद्धि के लिए

हेतु का प्रयोग करदियाजाय। न ऐसे साधारण वैधर्म्यमात्र के सहारे हेतु का प्रयोग होता है। परन्तु प्रतिवादी ने अनित्यसम जाति के प्रयोग में पदार्थमात्र के 'सत्त्व' साधर्म्य का आश्रय लेकर हेतु का प्रयोग करदिया है। 'अनित्यत्व' के साथ 'सत्त्व' की व्याप्ति के लिए कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं। तात्पर्य है–इन धर्मों की ऐकान्तिक (निर्दोष) व्याप्ति सम्भव नहीं। इसके विपरीत वादी के द्वारा स्थापित पक्ष में 'अनित्यत्व' एवं 'कृतकत्व' अथवा 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' साध्यहेतु धर्मों की उभयप्रकार व्याप्ति घटादि पदार्थों में पूर्णरूप से निर्धारित है। अतः वादी और प्रतिवादी के हेतुओं को समान कहकर वादी-पक्ष का प्रतिषेध कियाजाना असंगत है।

सूत्र चौबीस में 'अविशेषसम' जाति के प्रयोग का जिसप्रकार प्रत्याख्यान कियागया है, उसका भी उपयोग इस प्रसंग में कियाजासकता है ॥ ३४ ॥

नित्यसम जाति—यथावसर 'नित्यसम' जाति का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्ते-र्नित्यसमः ॥ ३५ ॥ (४९८)

[नित्यम्] सदा [अनित्यभावात्] अनित्य के स्थिर रहने से [अनित्ये] अनित्य (शब्द आदि पदार्थों) में [नित्यत्वोपपत्तेः] नित्यत्व की सिद्धि से (कियागया प्रतिषेध) [नित्यसमः] नित्यसम जाति है।

'शब्द अनित्य है' ऐसी प्रतिज्ञा कियेजाने पर पूछा जासकता है–शब्द में अनित्यत्व धर्म क्या नित्य है? अर्थात् शब्द में सदा स्थित रहता है? अथवा अनित्य है? कभी रहता है, कभी नहीं। यदि पहला विकल्प स्वीकार्य है–शब्द में अनित्यत्व धर्म सदा स्थित है, तो धर्म के सदा बने रहने से धर्मी-शब्द भी सदा विद्यमान मानाजायगा। ऐसी अवस्था में शब्द नित्य होना चाहिये, अनित्य नहीं। यदि दूसरा विकल्प मानाजाय–शब्द में अनित्यत्व सदा नहीं रहता, तो अनित्यत्व के न रहने की दशा में शब्द को नित्य स्वीकार कियाजाना चाहिये। तब 'शब्द अनित्य है' यह प्रतिज्ञा असंगत है। इसप्रकार नित्यत्व का आश्रय लेकर स्थापनावादी के पक्ष का प्रतिषेध करना 'नित्यसम' जाति है ॥ ३५ ॥

नित्यसम का उत्तर—आचार्य सूत्रकार ने नित्यसम जाति-प्रयोग के समाधान का प्रकार बताया—

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ ३६ ॥ (४९९)

[प्रतिषेध्ये] प्रतिषेध के विषय (स्थापनावादी के पक्ष) में [नित्यम्] सदा [अनित्यभावात्] अनित्यत्व धर्म के विद्यमान रहने से [अनित्ये] अनित्य (शब्द

आदि) में [अनित्यत्वोपपत्तेः] अनित्यत्व की सिद्धि से [प्रतिषेधाभावः] प्रतिषेध नहीं रहता (शब्द के अनित्यत्व का)।

'शब्द अनित्य है' यह स्थापनावादी का पक्ष है। प्रतिवादी जाति-प्रयोग द्वारा इसका प्रतिषेध करता है, इसलिए वादी का पक्ष 'प्रतिषेध्य' है। प्रतिवादी ने प्रतिषेध्य पक्ष के विषय में प्रश्न किया–अनित्यत्व धर्म शब्द में सदा रहता है? या कभी-कभी? अर्थात् शब्द में अनित्यत्व नित्य है? या अनित्य? जब प्रतिवादी शब्द में अनित्यत्व धर्म को नित्य-सदा रहनेवाला बताता है, तो उसने शब्द के अनित्यत्व को स्वीकार करलिया। क्योंकि वह प्रतिषेध के लिए 'नित्यं अनित्यत्वस्य भावात्' यह हेतु प्रस्तुत कररहा है। जिसका अर्थ है–शब्द में अनित्यत्व धर्म के सदा रहने से। इसके अनुसार जब शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होजाता है, तो 'शब्द अनित्य नहीं है' यह प्रतिषेध असंगत है। यदि हेतु को स्वीकार नहीं करते, अर्थात् शब्द में अनित्यत्व धर्म के सदा रहने से नकार करते हो, तो हेतु का स्वरूप ही नष्ट होजाता है। तब हेतु के अभाव में प्रतिषेध करना अनुपपन्न होगा।

यह भी समझना चाहिये कि उक्त प्रकार से प्रश्न कियाजाना कहांतक युक्त है? प्रश्न है–शब्द का अनित्यत्व धर्म नित्य है? या अनित्य? इसमें समझना यह है कि अनित्य का स्वरूप क्या है? प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होकर पदार्थ का किन्हीं कारणों से कालान्तर में नष्ट होजाना, न रहना–अनित्य का स्वरूप है। शब्द भी उत्पन्न होकर नष्ट होजाता है। तब उसे अनित्य मानकर–शब्द नित्य है, अथवा अनित्य? यह प्रश्न करना ही निराधार है। उत्पन्न शब्द का विनाश होकर अभाव होजाना शब्द का अनित्यत्व है। ऐसी अवस्था में शब्द और अनित्यत्व के आधाराधेयभाव का विभाग बताना वस्तुस्थिति के सर्वथा विरुद्ध है। जब शब्द अनित्य होने के कारण रहा नहीं, तो वहाँ धर्मी एवं धर्म का आधाराधेयभाव कैसा? नित्यत्व और अनित्यत्व परस्पर-विरुद्ध धर्म हैं; एक-धर्मी में विरुद्ध धर्मों का युगपत् रहना असम्भव है। इसलिए प्रतिषेधवादी का उक्त कथन–शब्द में सदा अनित्यत्व रहने से शब्द नित्य है–सर्वथा वस्तुस्थिति के विपरीत एवं असंगत है। फलतः शब्द का अनित्यत्व अबाधित बना रहता है॥ ३६॥

कार्यसम जाति—क्रमप्राप्त 'कार्यसम' जाति का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसमः॥ ३७॥ (५००)

[प्रयत्नानेककार्यत्वात्] प्रयत्न से अनेक कार्यों के होने के कारण (किया-गया प्रतिषेध) [कार्यसमः] कार्यसम नामक जाति है।

प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से शब्द अनित्य बताया गया। जो वस्तु प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होती है, वह उत्पत्ति से पहले विद्यमान न थी, यह स्पष्ट है। पहले न रहकर फिर उत्पन्न होना 'उत्पत्ति' का स्वरूप है। वह पदार्थ अनित्य है, जो इसप्रकार होकर (आत्मलाभ कर) फिर नहीं रहता। पदार्थ की इन अवस्थाओं पर ध्यान देते हुए देखाजाता है कि प्रयत्न के अनन्तर जो कार्य होता है, वह अनेक प्रकार का है। घट आदि पदार्थों को प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता देखाजाता है। घट आदि उत्पत्ति से पूर्व नहीं होते; प्रयत्न के अनन्तर आत्मलाभ करते हैं। इससे विपरीत जो पहले से विद्यमान पदार्थ किसी व्यवधान से आवरण से ढँके रहते हैं, प्रयत्न से आवरण आदि हटाकर उन्हें उपलब्ध कियाजाता है। अन्धकार से आवृत पदार्थ भी प्रकाश के आजाने पर प्रकट होजाता है। यह पदार्थ की 'अभिव्यक्ति' है। यहाँ पहले से विद्यमान पदार्थ प्रकट में आता है। ऐसा नहीं कि पहले न रहकर फिर आत्मलाभ करता हो। तब प्रयत्न से कार्य होने के दो प्रकार सामने आये। एक–उत्पत्ति; दूसरा–अभिव्यक्ति। शब्द के विषय में यह वक्तव्य है कि प्रयत्न के अनन्तर कार्यरूप शब्द की उत्पत्ति होती है, अभिव्यक्ति नहीं; इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है। कार्य समानरूप से प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न भी होता है, अभिव्यक्त भी। शब्द की अभिव्यक्ति मानेजाने से उसका अनित्य होना सिद्ध नहीं होता। इसप्रकार कार्य का आश्रय लेकर वादी के पक्ष का प्रतिषेध करना 'कार्यसम' जाति का प्रयोग है ॥ ३७ ॥

कार्यसम जाति का उत्तर—कार्यसम-जातिप्रयोग के समाधान का प्रकार आचार्य सूत्रकार ने बताया—

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः ॥३८॥ (५०१)

[कार्यान्यत्वे] कार्य से अन्य होने पर (शब्द के) [प्रयत्नाहेतुत्वम्] प्रयत्न की कारणता नष्ट होजाती, अथवा व्यर्थ होजाती है (यह उसी दशा में सम्भव है, जब घटादि स्थिर पदार्थों के व्यवधायक–) [अनुपलब्धिकारणोपपत्तेः] अनुपलब्धि के कारण (आवरण आदि) उपपन्न होते हैं।

शब्द को यदि प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होनेवाला नहीं मानाजाता, तथा घट, पट आदि स्थिर एवं व्यवहित पदार्थों के समान–व्यवधान के प्रयत्नपूर्वक न रहने पर–अभिव्यक्त मानाजाता है; तो शब्द की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ होजाता है। वह स्थिर होने पर प्रयत्न के विना निरन्तर सुनाई देते रहना चाहिये; क्योंकि उसकी अनुपलब्धि का कारण कोई आवरण आदि दृष्टिगोचर नहीं होता, न किसी अन्य प्रमाण से वह सिद्ध है। घट आदि स्थिर पदार्थों की जहाँ व्यवधान के अपावरण से अभिव्यक्ति मानीजाती है, वहाँ व्यवधान-भीत

अथवा यवनिका (चिक, परदा) आदि स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । इसलिए वहाँ घट आदि पदार्थों की उपलब्धिरूप अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न की हेतुता अक्षुण्ण बनी रहती है, वह व्यर्थ नहीं होती । क्योंकि वहाँ प्रयत्न व्यवधान को हटाने में हेतु रहता है । परन्तु शब्द के विषय में किसी आवरण–व्यवधान का अस्तित्व सर्वथा अनुपपन्न है, तब स्थिर शब्द की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ होगा । परन्तु शब्द की उपलब्धि के लिए व्यवस्थितरूप से प्रयत्न किया-जाता है ।[1] यह स्थिति स्पष्ट करती है--प्रयत्न के अनन्तर शब्द आत्मलाभ करता है, अतः वह अनित्य है । फलतः कार्यसम-जातिप्रयोग के द्वारा कियागया शब्दा-नित्यत्व का प्रतिषेध असंगत है ।। ३८ ।।

षट्पक्षी चर्चा—पक्ष-प्रतिपक्षरूप से कीजाती हुई चर्चा में अनेक वार स्थापनावादी व्यक्ति प्रतिपक्ष द्वारा कियेगये दोषपूर्ण प्रतिषेध का सदुत्तर न देकर–उस प्रतिषेध का दोषपूर्ण उत्तर देदेता है । ऐसी कथा में सब मिलाकर वादी–प्रतिवादी दोनों को तीन-तीन वार बोलने का अवसर दियाजाता है, अधिक नहीं । क्योंकि ऐसी चर्चा में उपयुक्त शास्त्रीय युक्तिनिरूपण न होकर निरर्थक कथाक्रम रहजाता है । चर्चा की ऐसी स्थिति को 'षट्पक्षी' कहाजाता है । इसमें तीन पक्ष (बोलने के अवसर) वादी के तथा तीन प्रतिवादी के होते हैं । इसी आधार पर इसको उक्त नाम दियागया है । इसका क्रम इसप्रकार है–

वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है–'शब्द अनित्य है,–प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से,–घट आदि के समान । इसके उत्तर में प्रतिवादी कहता है–शब्द के अनित्यत्व में वादी ने जो हेतु–प्रयत्नानन्तरीयकत्व' प्रस्तुत किया, वह अनैकान्तिक है; पूर्णरूप से साध्य का साधक नहीं है। अथवा प्रतिवादी इसप्रकार उत्तर देता है--शब्द के अनित्यत्व पक्ष को मानने पर 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' हेतु शब्द की उत्पत्ति को प्रकट करता है, अभिव्यक्ति को नहीं; इसमें कोई विशेष-हेतु नहीं है; जिससे शब्द की उत्पत्ति मानीजाय, अभिव्यक्ति न मानीजाय। प्रतिवादी द्वारा ऐसा आक्षेप कियेजाने पर यदि वादी का उत्तर है–

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः ।। ३९ ।। (५०२)

[प्रतिषेधे] प्रतिषेध में [अपि] भी [समानः] समान [दोषः] दोष है ।

तो वादी का यह उत्तर भी प्रतिवादी के समान दोषपूर्ण है । प्रतिवादी के आक्षेप का उत्तर स्थापनावादी इसरूप में प्रस्तुत करता है–यदि मेरे पक्ष में

---

१. आत्मा बुद्ध्या समेत्याऽर्थान् मनो युंक्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
मारुतस्तूच्चरन् मन्दं ततो जनयति स्वरम् ।। [वर्णोच्चारण शिक्षा]

अनैकान्तिक दोष है, तो तुम्हारे द्वारा कियेगये प्रतिषेध में भी अनैकान्तिक दोष है। वह कुछ प्रतिषेध करता है, कुछ नहीं। अनैकान्तिक होने से तुम्हारे अभिमत अर्थ का असाधक है। अथवा, शब्द के नित्यत्व पक्ष में भी प्रयत्न के अनन्तर शब्द की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं; इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है। यदि प्रयत्न से पदार्थ की अभिव्यक्ति मानीजाती है, तो उत्पत्ति भी क्यों न मानीजाय?

इसप्रकार का कथन दोनों पक्षों में समान है। दोनों के लिए विशेष हेतु का अभाव समान है, तथा दोनों अनैकान्तिक हैं। वादी ने प्रतिवादी के आक्षेप का उसीके समान उत्तर देने में अपने हेतु को अनैकान्तिक, तथा अपने पक्ष की पुष्टि में विशेष हेतु के अभाव को स्वीकार कर लिया। फलतः यदि प्रतिवादी का उत्तर दोषपूर्ण है, तो उसके समाधान में वादी के द्वारा दियागया उत्तर भी उसीप्रकार दोषपूर्ण है ॥ ३९ ॥

इसप्रकार की चर्चा का होना प्रत्येक जाति के प्रयोग में सम्भव है, आचार्य सूत्रकार ने इसका अतिदेश किया—

सर्वत्रैवम् ॥ ४० ॥ (५०३)

[सर्वत्र] समस्त जाति-प्रयोगों में [एवम्] इसप्रकार (समान दोष का उद्भावन करने) की चर्चा का उभर आना सम्भव है।

साधर्म्यसम आदि समस्त जाति-प्रयोगों में प्रतिवादी द्वारा दियेगये वादी के उत्तर का—यदि वादी उसीके कथन के अनुरूप अपना-समाधान प्रस्तुत करता है, तो दोनों पक्ष समानरूप से दोषपूर्ण रहते हैं ॥ ४० ॥

चर्चा की ऐसी स्थिति को आचार्य सूत्रकार ने स्पष्ट किया—

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ॥ ४१ ॥ (५०४)

[प्रतिषेधविप्रतिषेधे] प्रतिषेध का (उसी के अनुरूप) विप्रतिषेध करने पर [प्रतिषेधदोषवत्] प्रतिषेध में दोष के समान [दोषः] दोष होता है (विप्रतिषेधमें)।

स्थापनावादी के पक्ष में अनैकान्तिकत्व आदि किसी दोष का उद्भावन कर प्रतिवादी उसके पक्ष का प्रतिषेध करता है। अनन्तर स्थापनावादी उसका उत्तर देते हुए यदि प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत प्रतिषेध में उसीके अनुरूप 'अनैकान्तिकत्व' आदि दोष का उद्भावन करता है, तो वादी द्वारा प्रस्तुत इस—प्रतिषेध के प्रतिषेध—में भी समान दोष है। ऐसी चर्चा को छह पक्षों (बोलने के पर्यायों) को इसप्रकार समझना चाहिए—

षट्पक्षी चर्चा का प्रकार—वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है—'शब्द अनित्य है,—प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से,—घट आदि के समान।' इसप्रकार साधनवादी के द्वारा अपने पक्ष की स्थापना करना—'**प्रथम पक्ष**' है।

यहाँ छह पक्षों को समझाने अथवा स्पष्ट करने के लिए स्थापना-पक्ष के प्रतिषेध करने की भावना से समीप होने के कारण उदाहरणरूप में 'कार्यसम' जाति का प्रयोग करलेते हैं। वैसे वक्ता की इच्छानुसार अथवा योग्यता व जानकारी आदि के आधार पर प्रत्येक जाति-प्रयोग में इसका उपयोग होसकता है।

वादी द्वारा स्थापित पक्ष का प्रतिवादी जाति-प्रयोग द्वारा प्रतिषेध करता है–'शब्द नित्य है, उत्पन्न[1]-प्रध्वंसी न होकर स्थिर है,–प्रयत्न के अनन्तर होने से,–व्यवहित घट आदि के समान।' स्थापनावादी द्वारा प्रस्तुत हेतु में अनैकान्तिकत्व अथवा विशेष हेत्वभाव आदि दोष की उद्भावना से स्थापनापक्ष का प्रतिषेध करनेवाले दूषणवादी का यह कथन प्रस्तुत चर्चा में **'द्वितीय पक्ष'** है। सूत्र में इसीको 'प्रतिषेध' पद से कहागया है; अथवा इसीको अभिव्यक्त करने के लिए सूत्र में 'प्रतिषेध' पद का प्रयोग हुआ है।

प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु–उत्पन्न होकर नष्ट होजानेरूप (उत्पन्न-प्रध्वंसित्व रूप)–अनित्यत्व का ऐकान्तिकरूप से साधक नहीं है, क्योंकि यह चिरस्थायी व्यवहित घट आदि पदार्थों की अभिव्यक्ति में भी हेतु रहता है। अथवा, प्रयत्न के अनन्तर वस्तु की उत्पत्ति होती है, अभिव्यक्ति नहीं; इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है। इसप्रकार स्थापना-पक्ष में 'अनैकान्तिकत्व' अथवा 'विशेष हेत्वभाव'-दोष का उद्भावन कर प्रतिवादी ने उसका प्रतिषेध किया। चर्चा में प्रतिवादी का यह प्रथम पर्याय 'द्वितीय पक्ष' है।

प्रतिवादी ने जो दोष स्थापनावादी के पक्ष में उभारे, उसका उत्तर देने के लिए स्थापनावादी उन्हीं दोषों को प्रतिवादी के पक्ष में प्रकट करता हुआ जब कहता है–यह 'अनैकान्तिकत्व' अथवा 'विशेषहेत्वभाव'-दोष तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत प्रतिषेध-पक्ष में भी समान है। यह चालू चर्चा में **'तृतीय पक्ष'** है। सूत्र में इसको 'विप्रतिषेध' पद से कहागया है। चर्चा में स्थापनावादी के बोलने का यह 'द्वितीय पर्याय' अथवा दूसरा अवसर है।

इसका उत्तर देते हुए प्रतिवादी जब यह कहता है–तुम्हारे इस विप्रतिषेध में भी तो अनैकान्तिकत्व आदि दोष उसीप्रकार विद्यमान हैं। चालू चर्चा में यह **'चतुर्थ पक्ष'** है। यह प्रतिवादी के बोलने का दूसरा अवसर अथवा द्वितीय पर्याय है ॥ ४१ ॥

---

१. न्याय-सिद्धान्त में शब्द को 'द्विक्षणावस्थायी' मानाजाता है। इसीको 'उत्पन्न-प्रध्वंसी' कहते हैं। प्रथम क्षण में शब्द उत्पन्न हुआ, दूसरे क्षण में ठहारा, तीसरे में नष्ट होजाता है। शब्द की इसी स्थिति को प्रकृत में 'अनित्य' पद से कहागया है।

षट्पक्षी का पञ्चम पक्ष—चर्चा के चार पक्ष स्पष्ट होजाने पर सूत्रकार पञ्चम पक्ष का निर्देश करता है—

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ।। (४२ ।। (५०५)

[**प्रतिषेधम्**] प्रतिषेध–(द्वितीय पक्ष) [सदोषम्] दोषसहित को [अभ्युपेत्य] स्वीकार करके [प्रतिषेधविप्रतिषेधे] प्रतिषेध के विप्रतिषेध में (तृतीयपक्ष में, अर्थात् दूसरी बार बोलते हुए चतुर्थपक्ष से आपने [समानः] समान (जो दोष द्वितीयपक्ष में, तृतीयपक्ष से बोलते हुए स्थापनावादी ने बताया, उसके समान) [दोषप्रसंगः] दोष प्रसक्त करना [मतानुज्ञा] मतानुज्ञा है, दूसरे के मत को स्वीकार करलेना है। (यह निग्रहस्थान में आने का अवसर है; यह **'पंचमपक्ष'** है)।

पञ्चम पक्ष में चर्चा-प्रसंग से अपने बोलने की तीसरी बारी में स्थापनावादी कहरहा है-तृतीयपक्ष से बोलते हुए (बोलने की अपनी दूसरी बारी में) मैंने प्रतिषेध (प्रतिवादी के बोलने की पहली बार में द्वितीयपक्ष से कियेगये स्थापना के प्रतिषेध) को अनैकान्तिक आदि दोष-सहित बताया। चतुर्थ पक्ष से बोलते हुए अपने बोलने की दूसरी बारी में प्रतिवादी ने अपने प्रतिषेध (द्वितीय पक्ष) को सदोष स्वीकार करलिया, उस दोष का उद्धार तो किया नहीं; मेरे तृतीय पक्ष में वही दोष प्रसक्त करदिया। इसप्रकार प्रतिवादी द्वारा अपने प्रतिषेध (द्वितीय पक्ष) को उस दोष से युक्त मानलेना—जिसे स्थापनावादी ने उद्घाटित किया–'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान का अवसर दूषणवादी के लिये आजाता है। इसका तात्पर्य है–अपने विरुद्ध कही बात का प्रत्याख्यान न कर उसे स्वीकार करलेना। ऐसा वक्ता चर्चा-प्रसंग में निगृहीत होकर आगे बोलने का अपना अधिकार खोबैठता है। यह **'पञ्चम पक्ष'** है, जिसमें स्थापनावादी षट्पक्षी चर्चा के प्रसंग से तीसरी बार बोलने का अवसर प्राप्त करता है ।। ४२ ।।

षट्पक्षी का षष्ठ पक्ष—षट्पक्षी चर्चा के पञ्चम पक्ष का निर्देश कर सूत्रकार ने षष्ठ पक्ष का स्वरूप बताया—

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमात् समानो दोषः ।। ४३ ।। (५०६)

[स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे] अपने पक्ष से लक्षित जाति-प्रयोग से उभरे पक्ष की सिद्धि को बताने वाले [हेतुनिर्देशे] हेतुनिर्देश में (पञ्चम पक्ष में) [परपक्षदोषाभ्युपगमात्] पर पक्ष के दोष का स्वीकार करलेने से [समानः] समान [दोषः] दोष है (चतुर्थ पक्ष के समान पञ्चम पक्ष में भी मतानुज्ञा दोष है; यह प्रतिवादी द्वारा कहागया षट्पक्षी चर्चा का 'षष्ठ पक्ष' है)।

जो मतानुज्ञा दोष स्थापनावादी ने पञ्चम पक्ष द्वारा प्रतिवादी के चतुर्थ पक्ष में प्रसक्त किया, वही मतानुज्ञा-दोष प्रतिवादी ने षष्ठ पक्ष द्वारा स्थापनावादी के तृतीय पक्ष में बताया। यह भाव सूत्रपदों से कैसे अभिव्यक्त होता है, यह समझना चाहिये।

'स्वपक्ष' स्थापनावादी द्वारा स्थापित प्रथम पक्ष है--उससे लक्षित जाति-प्रयोग द्वितीय पक्ष है। जब वादी प्रथम अपने पक्ष की स्थापना करता है, उसी-पर आधारित प्रतिवादी जाति का प्रयोग करता है। इसलिए स्वपक्ष से लक्षित-प्रेरित-उत्थापित होने से 'स्वपक्षलक्षण' जाति का प्रयोग हुआ। इसप्रकार 'स्वपक्ष'-प्रथमपक्ष, तथा 'स्वपक्षलक्षण'--द्वितीय पक्ष, जातिप्रयोग। उसकी अपेक्षा से होनेवाला पक्ष 'तृतीय पक्ष' हुआ। जाति का प्रयोग होने पर स्थापनावादी तृतीय पक्ष से उसका उत्तर देता है, इसलिए तृतीय पक्ष--'स्वपक्षलक्षणापेक्ष' हुआ। उसकी उपपत्ति का उपसंहार-सिद्धि का कथन--पञ्चम पक्ष द्वारा किया-गया। अतः 'स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहार' हुआ पञ्चमपक्ष।

'पञ्चम पक्ष' स्थापनावादी के द्वारा प्रस्तुत होता है। स्थापनावादी यहाँ अपने द्वारा प्रस्तुत 'तृतीय पक्ष' की पुष्टि के लिए कथन करता है। प्रतिवादी ने 'द्वितीय पक्ष' द्वारा 'प्रथम पक्ष' में अनैकान्तिकत्व आदि दोष प्रकट किया। स्थापनावादी ने वही दोष 'तृतीय पक्ष' से 'द्वितीय पक्ष' में बताया। अनन्तर प्रतिवादी ने 'चतुर्थ पक्ष' से उसी दोष को 'तृतीय पक्ष' में निर्दिष्ट किया। तब 'तृतीय पक्ष' की पुष्टि के लिए 'पञ्चम पक्ष' द्वारा स्थापनावादी कहता है-तृतीय पक्ष से प्रतिवादी के द्वितीय पक्ष में जो दोष प्रकट कियागया, उसका समाधान न कर प्रतिवादी ने उसी दोष को चतुर्थ पक्ष द्वारा तृतीय पक्ष में बतादिया। इससे स्पष्ट होता है-द्वितीय पक्ष में परपक्ष (स्थापनावादी) द्वारा प्रस्तुत दोष को प्रतिवादी ने स्वीकार किया, अतः यह मतानुज्ञानिग्रहस्थान का अवसर आजाता है।

स्थापनावादी के इस कथन पर प्रतिवादी 'षष्ठ पक्ष' के रूप में कहता है--पञ्चम पक्ष से स्थापनावादी ने जो दोष प्रतिवादी पर निर्दिष्ट किया, वह ठीक उसीप्रकार स्थापनावादी पर भी लागू होता है। द्वितीय पक्ष से प्रथम पक्ष में अनैकान्तिकत्व दोष प्रकट कियागया। उसका समाधान न करके प्रथमपक्षवादी (स्थापनावादी) ने उसी दोष को तृतीय पक्ष द्वारा प्रतिवादी के द्वितीय पक्ष में दिखाया। इससे स्पष्ट होता है-परपक्ष (द्वितीयपक्ष) द्वारा दिखायेगये प्रथमपक्ष-गत दोष को स्थापनावादी ने स्वीकार करलिया। इसलिए वह भी मतानुज्ञा निग्रहस्थान की लपेट में आजाने से समान दोष का भागी है। चालू षट्पक्षी चर्चा में यह 'षष्ठ पक्ष' है।

ऐसी चर्चा में वादी-प्रतिवादी द्वारा एक-दूसरे पर केवल आरोप-प्रत्यारोप चलता है, आक्षेप के सदुत्तर दियेजाने का प्रयास नहीं होता। इसलिए 'षष्ठ

पक्ष' तक आकर चर्चा को समाप्त करदियाजाता है। इसमें प्रथम, तृतीय, पंचम पक्ष स्थापनावादी के होते हैं, तथा द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ पक्ष प्रतिषेधवादी अथवा प्रतिवादी के होते हैं। इनकी साधुता-असाधुता का विचार करने पर स्पष्ट हो-जाता है--चतुर्थ और षष्ठ पक्ष समान रूप से पुनरुक्त-दोषयुक्त रहते हैं। चतुर्थ पक्ष में परपक्ष की समान-दोषता कहीजाती है (सूत्र, ४१)। तथा षष्ठ पक्ष में भी परपक्ष के स्वीकार से समान दोष का निर्देश कियाजाता है (सूत्र ४३)।

इसीप्रकार तृतीयपक्ष और पञ्चमपक्ष में समानरूप से पुनरुक्त-दोष सामने आता है। तृतीय पक्ष में यह बात कही गई—'प्रतिषेध में भी समान दोष है (सूत्र ३९)'—यहाँ दोष की समानता को स्वीकार कियागया है। पञ्चमपक्ष में भी 'प्रतिषेध के विप्रतिषेध में समान दोष है (सूत्र ४१)'—यह कहकर प्रतिषेध के दोष को स्वीकार करलियागया है। दोनों पक्षों में वही एकबात कहीजाने से पुनरुक्त-दोष स्पष्ट होता है। किसी विशेष अर्थ का कथन यहाँ नहीं है। इस-प्रकार पञ्चमपक्ष और षष्ठपक्ष में एक ही बात को दोहराने से पुनरुक्त-दोष, तथा तृतीयपक्ष और चतुर्थपक्ष में विरोधी पक्ष को स्वीकार करने से मतानुज्ञा, एवं प्रथम-द्वितीय पक्ष में स्वपक्ष-साधक विशेष हेतु का अभाव रहता है। इस-प्रकार षट्पक्षी चर्चा में स्थापनापक्ष और प्रतिषेधपक्ष दोनों में से किसी पक्ष की सिद्धि नहीं होती; दोनों असिद्ध मानेजाते हैं।

षट्पक्षी चर्चा उसी दशा में प्रवृत्त होती है, जब स्थापनावादी अपने पक्ष पर जाति-प्रयोग का सदुत्तर न देकर प्रतिवादी पर समान दोष का आरोप करने लगता है। इस अवस्था में दोनों पक्ष असिद्ध रहते हैं। यदि स्थापनापक्ष पर हुए जाति के प्रयोग का स्थापनावादी सदुत्तर देता है, जैसे 'कार्यसम' जातिप्रयोग (सूत्र, ३७) का उत्तर अगले सूत्र से दिखायागया है, तो आगे प्रतिवादी को बोलने का अवसर न रहने से षट्पक्षी चर्चा प्रवृत्त नहीं होती। प्रथमपक्ष (स्थापनापक्ष) और द्वितीयपक्ष (प्रतिषेधपक्ष) के प्रस्तुत होजाने पर तृतीयपक्ष से स्थापनावादी यदि जातिप्रयोगरूप प्रतिषेध का समाधान यथार्थरूप से करदेता है, और जाति के प्रयोग को विशेषहेतुनिर्देशपूर्वक स्पष्ट बतादेता है, तो स्थापनावादी का प्रथम पक्ष सिद्ध होजाता है, षट्पक्षी का आगे कोई अवसर नहीं रहता ॥ ४३ ॥

इति श्रीगौतमीयन्यायदर्शनविद्योदयभाष्ये
पञ्चमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ।

अथ पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

पञ्चावयवनिर्देशपूर्वक पक्ष की स्थापना होजाने पर उसमें विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के विविध प्रकार होने के कारण जाति और निग्रहस्थान के अनेक भेद होजाते है, यह संक्षेप से प्रथम [१ । २ । २०] सूत्रकार ने बताया । उसी-के अनुसार गत आह्निक में चौबीस जाति-प्रयोगों का विवरण विस्तार के साथ कियागया है । उसके अनन्तर प्रस्तुत आह्निक में निग्रहस्थानों का निरूपण कर्त्तव्य है ।

निग्रहस्थान पराजय का अवसर—निश्चय ही निग्रहस्थान चर्चा में पराजय का सूचक मानाजाता है । जब चर्चा के अवसर पर कोई वक्ता अपने विरोधीज्ञान अथवा अज्ञान के कारण प्रतिपक्ष का सदुत्तर नहीं देपाता, तब उसके लिए यह अवसर आजाता है । कथाप्रसंग में ऐसी स्थिति प्रतिज्ञा आदि अवयवों के आधार पर उभर आती है, अथवा उभारलीजाती है । इसमें तत्त्ववादी और अतत्त्ववादी दोनों घिर सकते है । तात्पर्य है–यह आवश्यक नहीं कि इस लज्जास्पद अवसर का शिकार अतत्त्ववादी ही हो; कभी तत्त्ववादी भी इसकी लपेट में आजाता है । यथावसर यह स्पष्ट होजायगा । आचार्य सूत्रकार अब निग्रहस्थानों का विभाग बताता है—

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ।। १ ।। (५०७)

[प्रतिज्ञाहानिः‥‥‥हेत्वाभासाः] प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञा-विरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त, हेत्वाभास [च] तथा [निग्रहस्थानानि] निग्रहस्थान हैं ।

बाईस निग्रहस्थान—प्रतिज्ञाहानि से प्रारम्भ कर हेत्वाभास-पर्यन्त निग्रह-स्थानों की संख्या बाईस है । आगे समस्त आह्निक में एक-एक निग्रहस्थान का यथाक्रम लक्षण प्रस्तुत कियागया है ।। १ ।।

प्रतिज्ञाहानि—सर्वप्रथम आचार्य सूत्रकार ने प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान का लक्षण बताया—

प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः ॥ २ ॥ (५०८)

[प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा] विरोधी दृष्टान्त के धर्म को स्वीकार करलेना [स्वदृष्टान्ते] अपने दृष्टान्त में, [प्रतिज्ञाहानिः] यह प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रह-स्थान है।

वादी अपने प्रतिज्ञात अर्थ की पञ्चावयव वाक्य द्वारा स्थापना करता है—शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा); इन्द्रियग्राह्य होने से (हेतु); जो इन्द्रियग्राह्य होता है, वह अनित्य होता है, जैसे चक्षु-इन्द्रिय से ग्राह्य अनित्य घट (व्याप्तिनिर्देश-पूर्वक दृष्टान्त); शब्द भी श्रोत्र-इन्द्रिय से ग्राह्य होता है (उपनय); अतः वह इन्द्रियग्राह्य घट के समान अनित्य है (निगमन)।

स्थापनावादी द्वारा इसप्रकार अपना पक्ष स्थापित करदेने पर उसके विरोध में प्रतिवादी कहता है—शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा); इन्द्रियग्राह्य होने से (हेतु); जो इन्द्रियग्राह्य होता है, वह नित्य होता है, जैसे चक्षु आदि इन्द्रियग्राह्य सामान्य-घटत्व आदि जाति, (दृष्टान्त); शब्द भी श्रोत्र-इन्द्रियग्राह्य है (उपनय); अतः सामान्य के समान नित्य है।

प्रतिवादी द्वारा अपने पक्ष का प्रतिषेध होनेपर यदि स्थापनावादी यह कहने लगे—'जैसे इन्द्रियग्राह्य सामान्य नित्य है, भले ही उसीप्रकार घट नित्य रहो।' इसप्रकार कहता हुआ स्थापनावादी अपने पक्ष के साधक दृष्टान्त में विरोधी दृष्टान्त के नित्यत्व धर्म को स्वीकार करता हुआ प्रतिज्ञादि निगमन-पर्यन्त पञ्चावयव वाक्य से साधनीय पक्ष को छोड़ बैठता है। अपने पक्ष के उपपादन द्वारा जिस प्रतिज्ञा को सिद्ध करना चाहता था, उसीकी हानि करलेता है। यह उसके पराजय का स्थान है।

यदि स्थापनावादी प्रतिवादी के कथन का यह कहकर उत्तर देता है कि इन्द्रियग्राह्यत्वरूप नित्यानित्यसमान धर्म से घट का नित्यत्व सिद्ध नहीं होसकता; क्योंकि कृतकत्व अथवा प्रयत्नानन्तरीयकत्व विशेष धर्म से घट का अनित्यत्व प्रमाणित है, तथा उसके समान शब्द का अनित्यत्व सिद्ध है। ऐसी दशा में प्रतिवादी का पक्ष पराहत होजाता है, तथा स्थापनावादी के निगृहीत होने का अवसर नहीं रहता॥ २॥

प्रतिज्ञान्तर—प्रतिज्ञाहानि के अनन्तर सूत्रकार ने 'प्रतिज्ञान्तर' निग्रह-स्थान का स्वरूप बताया—

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात् तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ॥ ३ ॥ (५०९)

[प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे] प्रतिज्ञात अर्थ का प्रतिषेध कियेजाने पर (प्रतिवादी

के द्वारा), [धर्मविकल्पात्] धर्म के विविध प्रकार से अर्थात् धर्मभेद से [तद्-अर्थनिर्देशः] उस (प्रतिज्ञात) अर्थ (की सिद्धि) के लिए निर्देश करना (धर्म-विकल्प का) [प्रतिज्ञान्तरम्] प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रहस्थान होता है।

स्थापनावादी का प्रतिज्ञात अर्थ है--शब्द अनित्य है, इन्द्रियग्राह्य होने से, घट के समान। प्रतिवादी इस अर्थ का प्रतिषेध करता है--शब्द नित्य है, इन्द्रिय-ग्राह्य होने से, सामान्य की तरह। इसप्रकार प्रतिज्ञात अर्थ का प्रतिषेध कियेजाने पर, स्थापनावादी दृष्टान्त (घट) और प्रतिदृष्टान्त (सामान्य) में इन्द्रिय-ग्राह्यत्व समानधर्म को मानते हुए कहता है इनमें यथाक्रम 'असर्वगतत्व' और 'सर्वगतत्व' धर्मभेद भी है। घट असर्वगत (एकदेशी) तथा सामान्य सर्वगत (व्यापी) होता है। अपने पूर्वप्रतिज्ञात अर्थ--शब्द के अनित्य--की सिद्धि के लिए वह अब घट के असर्वगत होने का निर्देश करता है। उसका तात्पर्य है--घट असर्व-गत है, तथा शब्द भी असर्वगत है। इसप्रकार असर्वगत शब्द को असर्वगत घट के समान अनित्य मानना चाहिए। सर्वगत सामान्य के समान नित्य नहीं।

इस कथाप्रसंग में पहली प्रतिज्ञा है--शब्द अनित्य है। जब प्रतिवादी ने सामान्य में हेतु को अनैकान्तिक बताकर उसका प्रतिषेध किया, तो उसको प्रतिषेध से बचाने के लिए वादी दूसरी प्रतिज्ञा करता है--शब्द असर्वगत है। यह 'प्रतिज्ञान्तर' नामक निग्रहस्थान होता है।

यह पूर्वप्रतिज्ञा को बचाने के लिए उपयोगी होनेपर भी निग्रहस्थान क्यों मानागया? निग्रहस्थान होने का कारण है--इसका निरर्थक प्रयोग। किसी साध्य की सिद्धि के लिए साधनरूप में हेतु एवं दृष्टान्त का उपयोग कियाजाता है। प्रतिज्ञा किसी अन्य प्रतिज्ञा का साधन नहीं होता। इसलिए इस रूप में उसका प्रयोग व्यर्थ है, इसीकारण वह निग्रहस्थान है। यदि स्थापनावादी प्रतिषेध का प्रतीकार शब्द व घट के विशेष धर्म कृतकत्व के आधार पर करदेता है, तो प्रति-दृष्टान्त सामान्य प्रतिषेध के करने में पराहत होजाता है। ऐसा सदुत्तर न देकर अन्य प्रतिज्ञा द्वारा पक्ष को बचाने की प्रवृत्ति वक्ता के ज्ञानशैथिल्य अथवा प्रतिभाशैथिल्य को प्रकट करती है। यह दशा निगृहीत होने का अवसर है ॥ ३ ॥

प्रतिज्ञाविरोध--क्रमप्राप्त 'प्रतिज्ञाविरोध' का लक्षण आचार्य ने किया--

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥ ४ ॥ (५१०)

[प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः] प्रतिज्ञा और हेतु परस्पर जहाँ विरुद्ध हों, वह [प्रतिज्ञाविरोधः] प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान होता है।

स्थापनावादी प्रतिज्ञा करता है--'द्रव्य, गुणादि पदार्थों से अतिरिक्त है।' उसकी सिद्धि के लिए हेतु देता है--'रूप आदि गुणों से भिन्न किसी पदार्थ के

उपलब्ध न होने से'। यहाँ प्रतिज्ञा और हेतु में परस्पर विरोध है। यदि गुण आदि से अतिरिक्त द्रव्य पदार्थ है, तो 'रूपादि गुणों से भिन्न पदार्थ की उपलब्धि का न होना' उपपन्न नहीं होता। क्योंकि गुणों से अतिरिक्त द्रव्य यदि है, तो वह रूपादि गुणों से भिन्न अवश्य उपलब्ध होगा; उसकी अनुपलब्धि कैसे? यदि हेतु-निर्देश के अनुसार रूपादि गुणों से भिन्न कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता, तो गुणादि से अतिरिक्त द्रव्य के होने की प्रतिज्ञा करना निराधार होजाता है। इसप्रकार स्थापनावादी द्वारा प्रयुक्त इन प्रतिज्ञा और हेतु का परस्पर विरोध है। चर्चा में ऐसा प्रयोग करनेवाला वक्ता 'प्रतिज्ञाविरोध' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत एवं पराजित मानाजाता है।

इस पराजय में आधार यही है कि वाक्य में हेतु वह होना चाहिये, जो प्रतिज्ञात साध्य अर्थ का साधक हो। परन्तु यहाँ साधक होने की जगह उल्टा वह उसका विरोध करता है ॥ ४ ॥

प्रतिज्ञासंन्यास—क्रमप्राप्त 'प्रतिज्ञासंन्यास' निग्रहस्थान का सूत्रकार ने स्वरूप बताया—

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ॥ ५ ॥(५११)

[पक्षप्रतिषेधे] स्थापित पक्ष का प्रतिषेध कियेजानेपर [प्रतिज्ञातार्थापनयनम्] प्रतिज्ञात अर्थ को छोड़ बैठना (उसके कहेजाने से नकार कर देना) [प्रतिज्ञासंन्यासः] प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान है।

स्थापनावादी अपने पक्ष की स्थापना करता है—'शब्द अनित्य है, इन्द्रियग्राह्य होने से'। प्रतिवादी नित्य, इन्द्रियग्राह्य 'सामान्य' का उदाहरण देकर इसका प्रतिषेध करता है—'शब्द नित्य है, इन्द्रियग्राह्य होने से, सामान्य के समान'। नित्य 'सामान्य' इन्द्रियग्राह्य है, तब इन्द्रियग्राह्य शब्द भी नित्य होना चाहिए।

इस प्रतिषेध से घबड़ाकर सदुत्तर न दियेजाने की दशा में स्थापनावादी कह उठता है—'यह किसने कहा—शब्द अनित्य है?' शब्द की अनित्यता से नकार कर अपने पूर्व-प्रतिज्ञात अर्थ 'शब्द अनित्य है' का अपलाप करदेता है। चर्चा में ऐसा कथन 'प्रतिज्ञासंन्यास' नामक निग्रहस्थान है। वक्ता मानो अपनी 'प्रतिज्ञा' से 'संन्यास' लेलेता है ॥ ५ ॥

हेत्वन्तर निग्रहस्थान—आचार्य सूत्रकार क्रमप्राप्त 'हेत्वन्तर' का लक्षण करता है—

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ॥ ६ ॥ (५१२)

[अविशेषोक्ते] सामान्यरूप से प्रयुक्त [हेतौ] हेतु का [प्रतिषिद्धे] प्रतिषेध कियेजाने पर [विशेषम्] विशेष हेतुप्रयोग को [इच्छतः] चाहते हुए

अथवा करते हुए वक्ता का ऐसा कथन [हेत्वन्तरम्] हेत्वन्तर नामक निग्रहस्थान मानाजाता है।

स्थापनावादी अपने पक्ष की सिद्धि के लिए स्थापना करता है–'यह समस्त व्यक्त जगत् एक प्रकृति (उपादानतत्त्व) से उत्पन्न है'। इसके लिए हेतु देता है–'परिमाण; अर्थात् परिमित होने से'। एक मिट्टी के विकार शकोरा, घड़ा, रहट की डोलची, मटका आदि सब परिमित हैं। जितना सीमित उपादान-तत्त्व है, उसीके अनुसार विकार की रचना होती है। इसप्रकार समस्त विकार परिमाण से युक्त देखाजाता है। जितना व्यक्त पदार्थ है, उस सबके परिमाणयुक्त होने के कारण समस्त विकार किसी एक प्रकृति (उपादानतत्त्व) से उत्पन्न होता है, यह सिद्ध होजाता है।

ऐसी स्थापना कियेजाने पर प्रतिवादी प्रतिषेध करता है–एकप्रकृतिक घड़ा, शकोरा आदि के समान नानाप्रकृतिक घड़ा, कड़ा (आभूषण) आदि विकारों को भी परिमाणयुक्त देखाजाता है। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि एकप्रकृतिक विकारों में ही परिमाण रहता हो। नानाप्रकृतिक घट-रुचक आदि विकारों में भी परिमाण होने से उक्त हेतु अनैकान्तिक है।

इसप्रकार प्रतिषेध कियेजाने पर वादी उक्त हेतु में संशोधन प्रस्तुत करता है–केवल परिमाण से नहीं, प्रत्युत एकप्रकृति का समन्वय होने पर विकारों के परिमित देखेजाने से उनकी एकप्रकृतिकता (एकस्वभाव उपादान से उत्पत्ति) सिद्ध होती है। प्रस्तुत प्रसंग में 'प्रकृति' पद का अर्थ 'कार्य-कारण का समान स्वभाव' समझना चाहिये। ऐसा उपादानतत्त्व जो एक स्वभाव से समन्वित होता हुआ परिमाण से युक्त हो। समस्त व्यक्त एवं परिमित विकार सुख-दुःख-मोहस्वभाव से समन्वित जानाजाता है। इसलिए वह सब एकप्रकृतिक (सुख-दुःख-मोहात्मक एक उपादानतत्त्व से उत्पन्न) है। प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत नानाप्रकृतिक घट-रुचक आदि के उदाहरण में परिमाण-योग होने पर भी इन विकारों के उपादानतत्त्व मृत्तिका-सुवर्ण में एकस्वभाव का समन्वय नहीं है। ये दोनों परस्पर भिन्नस्वभाव उपादान हैं; अतः इनके सहारे उक्त हेतु में अनैकान्तिकता-दोष का उद्‌भावन निराधार है। घड़ा, शकोरा आदि एकप्रकृतिक हैं, क्योंकि उनका उपादान मृत्तिका समानस्वभाव से समन्वित है। रुचक, कुण्डल आदि एकप्रकृतिक हैं, क्योंकि इनका उपादानतत्त्व सुवर्ण समानस्वभाव से समन्वित है। इसीप्रकार समस्त विश्वरूप विकार एकप्रतिक है; क्योंकि उसका उपादानतत्त्व (प्रकृति) सुख-दुःख-मोहात्मक एकस्वभाव से समन्वित है। यह भाव विकारमात्र में समानरूप से अनुगत है। प्रकृति के एक होने का तात्पर्य यह है–सुख-दुःख-मोहरूप उपादानतत्त्व में अन्य किसीप्रकार के उपादानतत्त्व का संमिश्रण नहीं है।

प्रस्तुत प्रसंग में हेत्वन्तर निग्रहस्थान का यह किसप्रकार उदाहरण है, समझना चाहिये। वादी, पक्ष की स्थापना के समय केवल 'परिमाणात्' हेतु प्रस्तुत करता है। अनन्तर प्रतिवादी के द्वारा हेतु में अनैकान्तिक-दोष की उद्भावना करने पर उसके प्रतीकार के लिए 'एकप्रकृतिसमन्वये सति' यह विशेषण देकर संशोधन प्रस्तुत करता है। इससे स्पष्ट है-पहले प्रस्तुत कियागया हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ रहा, यह वादी को स्वीकार्य हुआ। इसीकारण उसने प्रथम हेतु के स्थान पर अन्य हेतु प्रस्तुत किया। विशेषण देने से हेतु का स्वरूप बदल जाता है। पहले साधारणरूप में हेतु का निर्देश है, अनन्तर विशेषरूप में। पहले हेतु में साधनाभाव का अनुभव होना निग्रहस्थान का प्रयोजक है॥ ६॥

अर्थान्तर-निग्रहस्थान—क्रमप्राप्त 'अर्थान्तर' निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

प्रकृतादर्थादप्रतिसंबद्धार्थमर्थान्तरम् ॥ ७ ॥ (५१३)

[प्रकृतात्] प्रसंगप्राप्त [अर्थात्] अर्थ से [अप्रतिसंबद्धार्थम्] असंबद्ध अर्थ का कथन करना [अर्थान्तरम्] 'अर्थान्तर' नामक निग्रहस्थान है।

अपने पक्ष और प्रतिपक्ष को स्वीकार कर जब वादी-प्रतिवादी चर्चा प्रारम्भ करते है, तब कोई एक वक्ता अपने पक्ष की स्थापना करता है-'शब्द नित्य है' यह मेरी प्रतिज्ञा है। 'स्पर्शरहित होने से' यह हेतु है। इतना कहकर 'हेतु' पद का निर्वचन करने लगता है-'हेतु' यह नाम पद है, 'हिनोति' धातु से 'तुन्' प्रत्यय करके कृदन्तपद के रूप में सिद्ध होता है। 'पद' चार प्रकार के होते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात। आगे नाम आख्यात आदि की व्याख्या प्रारम्भ करदेता है। प्रस्तुत चर्चा के मुख्य विषय की सिद्धि के लिए जिसका कोई उपयोग नहीं होता। इसप्रकार चालू चर्चा में अनुपयोगी अन्य अर्थ का कथन करते जाना 'अर्थान्तर' निग्रहस्थान कहाजाता है।

चर्चा के समय जब कोई वक्ता अपने बोलने का अवसर पाता है और अपने स्थापित पक्ष को प्रमाणपूर्वक सिद्ध करने के लिए स्वयं को असमर्थ पाता है, तब अपने बोलने के समय को पूरा करने तथा श्रोताओं एवं प्रतिवादी के सन्मुख चुप न होजाने, कुछ-न-कुछ बोलते रहने की भावना से इस निग्रहस्थान की प्रवृत्ति होती है॥ ७॥

निरर्थक-निग्रहस्थान—क्रमप्राप्त 'निरर्थक' निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥ ८ ॥ (५१२)

[वर्णक्रमनिर्देशवत्] वर्णों का क्रम से कथनमात्र करना [निरर्थकम्] निरर्थक नामक निग्रहस्थान है।

वादी कहता है–क च ट त प शब्द नित्य हैं, ज ब ग ड द श होने से, झ भ घ ढ ध ष के समान। चर्चा में इसप्रकार का कथन 'निरर्थक' निग्रहस्थान की सीमा में आता है। निरर्थक होने के कारण है–साध्य, हेतु एवं दृष्टान्त के रूप में केवल वर्णों का क्रमपूर्वक निर्देश करदियाजाना। इनका परस्पर न तो साध्य-साधनभाव है, और न ये वर्ण किसी वाच्य अर्थ का बोध कराते हैं॥ ८॥

अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान—'अविज्ञातार्थ' नामक निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार ने कहा—

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञात-मविज्ञातार्थम्॥ ९॥ (५१५)

[परिषत्प्रतिवादिभ्याम्] परिषत् और प्रतिवादी के द्वारा (वादी वक्ता का-) [त्रिः] तीन बार [अभिहितम्] कहा गया [अपि] भी (वाक्य जब) [अवि-ज्ञातम्] समझा नहीं जाता, (तब वह) [अविज्ञातार्थम्] अविज्ञातार्थ नामक निग्रहस्थान मानाजाता है।

चर्चा में कभी कोई वक्ता अत्यन्त क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करता है; अथवा ऐसे पदों का प्रयोग करता है, जो अपेक्षित अर्थों का बोध कराने में कहीं जाने नहीं जाते; अथवा इतनी द्रुतगति व तीव्रता से पदों का उच्चारण करता है, कि सुननेवाला कुछ नहीं समझपाता, अथवा ध्वनि कभी इतनी मन्द रहती है कि साथ कान लगाने पर भी शब्द सुनाई न पड़े, इत्यादि कारणों से जब वादी के कथन को–तीन वार बोलने पर भी समस्त सभा और प्रतिवादी–न समझपायें, तो वक्ता निगृहीत मानाजाता है। उसका उक्त प्रकार कथन 'अविज्ञातार्थ' नामक निग्रहस्थान के अन्तर्गत आता है।

किसी विषय के निर्णय के लिए आयोजित सभा में चर्चा के समय ऐसा कथन प्रायः अपने मिथ्यावैदुष्य के ख्यापन के लिए अथवा अपनी शास्त्रचर्चा-सम्बन्धी दुर्बलता को छिपाने के लिए कियाजाता है। यही इसके निग्रहस्थान मानेजाने का आधार है॥ ९॥

अपार्थक-निग्रहस्थान—क्रमप्राप्त 'अपार्थक' निग्रहस्थान का लक्षण बताया—

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसंबद्धार्थमपार्थकम्॥ १०॥ (५१६)

[पौर्वापर्यायोगात्] पूर्वापर सम्बन्ध न होने से (प्रयुक्त पदों एवं वाक्यों में जब) [अप्रतिसंबद्धार्थम्] असंबद्ध अर्थवाला होजाता है (वाक्यसमूह, तब वह) [अपार्थकम्] अपार्थक नामक निग्रहस्थान है (प्रकृत अर्थ से अपगत-दूर होजाना)।

चर्चा के प्रसंग में जब ऐसे पद व वाक्य बोले जायें, जिनका पूर्वापर के साथ परस्पर कोई अर्थ-सम्बन्ध प्रतीत न हो, ऐसे असम्बद्धार्थक पदों वा वाक्यों का प्रयोग 'अपार्थक' नामक निग्रहस्थान का प्रयोजक होता है। पद-समुदाय का

अर्थ अपगत--दूर होजाने से--अर्थात् उनका कोई उपयुक्त पारस्परिक अर्थ न होने से–यह 'अपार्थक' नाम है। 'निरर्थक' में प्रकरण से असम्बद्ध अर्थ रहता है, यहां पदों के परस्पर सम्बन्ध का अभाव रहता है; यह इनमें भेद है।

वात्स्यायन-भाष्य में उदाहरणरूप से ये पद दियेगये हैं–"दश दाडिमानि, षडपूपाः,[1] कुण्डमजाजिनम्, पललपिण्डः, अध[2] रौरुकमेतत्, कुमार्याः पाय्यं,[3] तस्याः पिता अप्रतिशीनः" इन पदों का यथाक्रम अर्थ है–"दस अनार, छह पुए, कूंडा, बकरे अथवा बकरी का चमड़ा, मांस का टुकड़ा, अब विशेष हरिणसम्बन्धी यह, कुमारी का परिमाण अथवा प्ररक्षण उसका पिता बूढ़ा"।

यद्यपि इन पदों में से प्रत्येक का अपना अर्थ है, परन्तु पूर्वापर के साथ किसी का अर्थ-सम्बन्ध नहीं है। चर्चा के प्रसङ्ग से इसप्रकार के पदों का बोला-जाना 'अपार्थक' निग्रहस्थान में आता है। वक्ता की अज्ञानता का द्योतक यहाँ निग्रहस्थान का प्रयोजक है॥ १०॥

---

१. कतिपय पुस्तकों में 'कुण्डम्, अजाजिनम्' इसप्रकार पृथक् पाठ मुद्रित है।

२. चौखम्बा, वाराणसी-संस्करणों में 'अथ' पाठ है। इसी अर्थ में 'अध' पद का प्रयोग भी देखाजाता है। 'रुरु' हरिण की एक जाति है, जिसकी पीठ की खाल पर चटाक (धब्बे) होते हैं। इस जाति के नर को 'झाँख' तथा मादा को 'चीतल' कहते हैं। इंग्लिश में इसका नाम Spotted Dear है। आचार्यों का सुझाव है, यहाँ 'अर्धोरुकमेतत्' पाठ होना चाहिये। कोषकारों ने (अर्धोरुकं वरस्त्रीणां···अंशुकम्)' अर्धोरुक वरस्त्रियों का वस्त्र लिखा है। 'अर्धोरुक' पद से यह भाव प्रकट होता है–वस्त्र आधे ऊरुभाग तक रहना चाहिये। कोष में 'वरस्त्री' पद वाराङ्गना की ओर संकेत करता प्रतीत होता है। सम्भव है, प्राक्काल में नृत्य आदि के अवसर पर वार-वनिता ऐसा वस्त्र पहिनती हों। आजकल विद्यालय जानेवाली बालिका प्रायः ऐसा वस्त्र पहनती हैं, जिसे मिनी स्कर्ट (Mini Skirt) कहाजाता है। आधुनिक कोष-संकलयिताओं ने 'अर्धोरुकं' का अर्थ 'पेटीकोट' बताया है, जिसको साड़ी के नीचे महिला पहिनती हैं। परन्तु यह टखने तक टाँगों को ढकता है, आधे ऊरु तक नहीं। यह अधिक सम्भव है, प्राक्काल में साड़ी के नीचे पहनने का वस्त्र घोंटुओं के ऊपर तक रहता हो। अथवा महिला-गण साड़ी के नीचे जाँघिया-जैसा वस्त्र पहनती हों।

३. 'पाय्यं' पद का अर्थ वाचस्पति मिश्र ने 'पयायितव्यम्' किया है, अर्थात् कोई पेय पदार्थ। वैसे यह पद पाणिनि [३।१।१२९] के अनुसार मान-परिमाण अर्थ में निपातित है।

अप्राप्तकाल—आचार्य सूत्रकार ने 'अप्राप्तकाल' नामक क्रमप्राप्त निग्रह-स्थान का लक्षण बताया—

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥ ११ ॥ (५१७)

[अवयवविपर्यासवचनम्] प्रतिज्ञा आदि अवयवों का उलटफेर करके कथन [अप्राप्तकालम्] 'अप्राप्तकाल' नामक निग्रहस्थान कहाजाता है।

प्रतिज्ञा आदि अवयवों का अपने सामर्थ्य व प्रयोजन के अनुसार एक क्रम निर्धारित है। चर्चा तथा अन्य प्रसंगों में पञ्चावयव वाक्य के प्रयोग के अवसर पर उसका पालन करना आवश्यक होता है, जिससे अपेक्षित अर्थ की अभिव्यक्ति में सुविधा रहे। इसमें उलट-फेर करने से व्याख्येय अर्थ के स्पष्ट करने में अड़चन की सम्भावना रहती है, तथा अवयवों से बोध्य अर्थ आपस में असम्बद्ध-सा होजाता है। इसप्रकार का अवयवविपर्यास वक्ता की घबराहट से एवं उपयुक्त अवसर पर अवयव के न फुरने आदि से होता है, जो निग्रहस्थान का प्रयोजक है ॥ ११ ॥

न्यून-निग्रहस्थान—'न्यून' निग्रहस्थान का आचार्य ने लक्षण बताया—

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥ १२ ॥ (५१८)

[हीनम्] रहित [अन्यतमेन] पाँचों अवयवों में से किसी एक [अपि] भी [अवयवेन] अवयव से (कथन) [न्यूनम्] 'न्यून' निग्रहस्थान कहाजाता है।

प्रतिपाद्य अर्थ की पूर्णसिद्धि के लिए पाँचों अवयवों का बोलना आवश्यक होता है। इससे अपेक्षित अर्थ की सिद्धि में कोई सन्देह नहीं रहता। चर्चा के अवसर पर किसी अवयव का न बोलाजाना साध्य की सिद्धि में बाधक रहता है। पाँचों अवयवों का प्रयोग साध्य का साधन मानागया है, उसके अभाव में साध्य असिद्ध रहेगा। इसप्रकार किसी अवयव का प्रयोग न कियाजाना वक्ता की असमर्थता को प्रकट करता है ॥ १२ ॥

अधिक-निग्रहस्थान—'अधिक' निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ॥ १३ ॥ (५१९)

[हेतूदाहरणाधिकम्] हेतु और उदाहरण का जब अधिक प्रयोग कर-दियाजाय, तो वह [अधिकम्] 'अधिक' नामक निग्रहस्थान मानाजाता है।

पञ्चावयव वाक्य में एक हेतु एवं एक उदाहरण के प्रयोग से साध्य की सिद्धि सम्पन्न होने पर अतिरिक्त हेतु एवं उदाहरण का प्रयोग अनर्थक है, निष्प्रयोजन है। यही निग्रहस्थान का कारण है। एक हेतु एवं उदाहरण का निर्देश कर देने पर दूसरे हेतु एवं उदाहरण का कथन वक्ता की इस भावना को अभिव्यक्त करता है कि उसके द्वारा प्रयुक्त पहला हेतु कदाचित् साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ हो। यह असमर्थता का द्योतन निग्रहस्थान का प्रयोजक है।

'अधिक' निग्रहस्थान हेतु और उदाहरण के अतिरिक्त प्रयोग पर निर्भर है। प्रतिज्ञा, उपनय, निगमन का अतिरिक्त प्रयोग सम्भव नहीं। यदि ऐसा कियाजाय, तो वह 'पुनरुक्त' निग्रहस्थान के अन्तर्गत आयेगा। हेतु और उदाहरण का अधिक प्रयोग उसी दशा में निग्रहस्थान मानाजायगा, जब वाद के प्रारम्भ में एक हेतु एवं उदाहरण के कहेजाने का नियम निर्धारित करलियागया हो। ऐसे नियम के उल्लङ्घन में यह निग्रहस्थान है, अन्यथा नहीं।

उदाहरण है–यह प्रपञ्च मिथ्या है,–जड़ होने से, तथा दृश्य होने से; रज्जु-सर्प के समान, तथा गन्धर्वनगर के समान ॥ १३ ॥

पुनरुक्त निग्रहस्थान—'पुनरुक्त' निग्रहस्थान का सूत्रकार ने लक्षण बताया—

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ॥ १४ ॥ (५२०)

[शब्दार्थयोः] शब्द अथवा अर्थ का [पुनः] फिर, दुबारा [वचनम्] कथन करना [पुनरुक्तम्] 'पुनरुक्त' नामक निग्रहस्थान है, [अन्यत्र] अतिरिक्त स्थल में [अनुवादात्] अनुवाद से।

अनुवाद में शब्द अथवा अर्थ का दोहराना सप्रयोजन होता है, इसलिए अनुवाद के प्रसंग को छोड़कर अन्य स्थल में शब्द एवं अर्थ का दोबारा कहना पुनरुक्त निग्रहस्थान है। शब्द और अर्थ दोनों का दोहराना इस निग्रहस्थान के अन्तर्गत आने से यह 'शब्दपुनरुक्त' तथा 'अर्थपुनरुक्त' दो प्रकार का है। पहले का उदाहरण है–'शब्दः नित्यः, शब्दः नित्यः' अर्थात् 'शब्द नित्य है, शब्द नित्य है' इत्यादि। दूसरे का उदाहरण है–'शब्द अनित्य है, ध्वनि उत्पत्ति-निरोधधर्मक है'। यद्यपि यहाँ शब्द नहीं दोहरायेगये; तथापि दो प्रकार से कहे शब्दों का अर्थ एक है, अतः अर्थ दोहरायेजानेसे यह दूसरा पुनरुक्त है।

अनुवाद में शब्द अथवा अर्थ का दोबारा कहना दोषावह नहीं होता; क्योंकि वहाँ शब्द एवं अर्थ के दोबारा कहने से विशेष अर्थ का बोध कराना अभीष्ट होता है। जैसे 'गच्छ, गच्छ' 'जाओ, जाओ' यह शब्द का अभ्यास 'जल्दी चले जाओ' इस विशेष अर्थ का बोधक है। 'जाओ, अपना रास्ता पकड़ो' यहाँ शब्द तो भिन्न हैं, पर अर्थ उनका वही है; अर्थ का दोहराना भी 'जल्दी चले जाओ' इस विशेष अर्थ को प्रकट करता है। ऐसे स्थलों में पुनरुक्त-दोष नहीं मानाजाता। इसीके अनुसार आचार्य ने स्वयं अनुमान के पञ्चावयव वाक्य में हेतु के कथन के साथ प्रतिज्ञा के पुनः बोलेजाने को 'निगमन' का अभिमत स्वरूप दिया है[1] ॥ १४ ॥

---

१. द्रष्टव्य, 'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्' [१ । १ । ३९]।

'पुनरुक्त' निग्रहस्थान का अन्य लक्षण सूत्रकार ने बताया—

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥ १५ ॥ (५२१)

[अर्थात्—आपन्नस्य] अर्थ से प्राप्त-अर्थापत्ति से जाने गये भाव का [स्वशब्देन] अपने शब्द से [पुनर्वचनम्] फिर कहना (उसी भाव को, पुनरुक्त निग्रहस्थान मानाजाता है)।

गत सूत्र से 'पुनरुक्तम्' पद की यहाँ अनुवृत्ति है। एक बात कहदेने पर उससे अर्थापत्ति के द्वारा जो भाव अभिव्यक्त होजाता हो, उसे पुनः अपने शब्दों के द्वारा प्रकट करना 'पुनरुक्त' निग्रहस्थान मानाजाता है। जैसे कहागया—'उत्पत्तिधर्मक पदार्थ अनित्य होता है'। इतना कहने से अर्थापत्ति द्वारा यह प्रकट होजाता है—'जो अनुत्पत्तिधर्मक है, वह नित्य है'। इस भाव को साक्षात् शब्दों द्वारा पुनः अभिव्यक्त करना 'पुनरुक्त' निग्रहस्थान है। तात्पर्य है—शब्द का प्रयोग किसी अर्थ का बोध कराने के लिए कियाजाता है। यदि वह पहले ही अर्थापत्ति द्वारा ज्ञात है, तो उसके लिए शब्दों का प्रयोग व्यर्थ होने से पुनरुक्त होगा ॥ १५ ॥

अननुभाषण—क्रमप्राप्त 'अननुभाषण' निग्रहस्थान का लक्षण किया—

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारण-मननुभाषणम् ॥ १६ ॥ (५२२)

[विज्ञातस्य] अच्छीतरह जानेगये का [परिषदा] परिषत्—श्रोता समुदाय—के द्वारा, [त्रिः] तीन बार (वादी के द्वारा) [अभिहितस्य] कहेगये-उच्चारित कियेगये [अपि] भी (वाक्य के) [अप्रत्युच्चारणम्] उत्तर अथवा विरोध के लिए प्रतिवादी के कथन को पुनः न बोलना [अननुभाषणम्] 'अननुभाषण' नामक निग्रहस्थान है।

प्रतिवादी के द्वारा कथित वाक्यार्थ को सभा में उपस्थित व्यक्तियों ने अच्छीतरह समभलिया है, तथा प्रतिवादी ने इसी अभिप्राय से अपने अभिमत को तीन बार कह दिया है, फिर भी वादी उसका उत्तर देने के लिए प्रतिवादी के कथन का प्रत्युच्चारण नहीं कररहा। वाद-कथा की यह मर्यादा है कि प्रतिवादी के कथन का अनुवाद कर वादी उसका उत्तर दे। यदि वादी प्रतिवादी के कथन को अपने मुँह से नहीं दुहराता, तो किस आधार पर वह उसका उत्तर देगा? परपक्ष के प्रतिषेध के अवसर पर, परपक्ष का प्रथम निर्देश कर उसका प्रतिषेध करना चर्चा में आवश्यक होता है, क्योंकि प्रतिषेध का आलम्बन-आश्रय वही है। जो ऐसा नहीं करता, वह निगृहीत मानाजाता है, चाहे वादी हो, अथवा प्रतिवादी ॥ १६ ॥

अज्ञान-निग्रहस्थान—'अज्ञान' निग्रहस्थान का सूत्रकार ने लक्षण किया—

अविज्ञातं चाज्ञानम् ॥ १७ ॥ (५२३)

[अविज्ञातम्] नहीं जानागया [च] तथा अथवा भी [अज्ञानम्] 'अज्ञान' नामक निग्रहस्थान है।

गत सूत्र से 'विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्य' इन पदों का यहाँ अनुक्रम समझना चाहिये। वादी अथवा प्रतिवादी के द्वारा कहेगये वाक्यार्थ को सभी सभास्थित व्यक्तियों ने अच्छी तरह समझलिया है, तथा इसी अभिप्राय से वादी अथवा प्रतिवादी ने अपने वाक्यार्थ को तीन बार कहदिया है, फिर भी यदि वादी अथवा प्रतिवादी अपने विरोधी के वाक्यार्थ को नहीं समझपाता, तो वह 'अज्ञान' नामक निग्रहस्थान में निगृहीत मानाजाता है। वादी और प्रतिवादी दोनों में से जो कोई अपने विरोधी के कहे वाक्यार्थ को उक्त परिस्थिति में नहीं समझपायेगा, वही निगृहीत होगा ॥ १७ ॥

अप्रतिभा-निग्रहस्थान—'अप्रतिभा' निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार ने किया—

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥ १८ ॥ (५२४)

[उत्तरस्य] उत्तर का [अप्रतिपत्तिः] न सूझना (अवसर पर), [अप्रतिभा] 'अप्रतिभा' नामक निग्रहस्थान है।

वादी अथवा प्रतिवादी के द्वारा अपने अभिमत की स्थापना करदेने पर विरोधी के द्वारा प्रस्तुत प्रतिषेध का जब अवसर पर उत्तर नहीं सूझता, वह अप्रतिभा निग्रहस्थान है। वादी तथा प्रतिवादी दोनों में से जिस किसी को अपने विरोधी के कथन का उत्तर नहीं सूझता, वह निगृहीत मानाजाता है ॥ १८ ॥

विक्षेप-निग्रहस्थान—क्रमप्राप्त 'विक्षेप' का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः ॥ १९ ॥ (५२५)

[कार्यव्यासङ्गात्] किसी कार्य के बहाने से [कथाविच्छेदः] चालू कथा का परित्याग करजाना [विक्षेपः] 'विक्षेप' नामक निग्रहस्थान है।

कथा के चालू रहते हुए वादी अथवा प्रतिवादी के द्वारा किसी कार्य का बहाना बनाकर जो कथा का परित्याग करजाना है, वह विक्षेप निग्रहस्थान है। जो ऐसा करता है, वह निगृहीत मानाजाता है। अपने विरोधी के कथन का उत्तर देने में जब वक्ता अपने-आप को असमर्थ पाता है, तब बहाना करता है—मुझे अकस्मात् इस समय एक आवश्यक कार्य का स्मरण हो आया है, उसे पूरा करके कथा में पुनः भाग ले सकूँगा; यह कहकर चालू कथा को छोड़कर चलाजाता है। ऐसा व्यक्ति निगृहीत मानाजाता है। निग्रहस्थान में आजाने से स्वतः उस

कथाप्रसंग की समाप्ति होजाने पर कालान्तर में अन्य कथा का प्रारम्भ होना स्वाभाविक है। अनन्तर जो कथाप्रसंग चलेगा, वह दूसरा होगा ॥ १९ ॥

मतानुज्ञा-निग्रहस्थान—क्रमप्राप्त 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान का सूत्रकार ने लक्षण किया—

स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥ २० ॥ (५२६)

[स्वपक्षे] अपने पक्ष में [दोषाभ्युपगमात्] दोष स्वीकार करलेने से [परपक्षे] परपक्ष में-विरोधी के पक्ष में [दोषप्रसङ्गः] उसी दोष का प्रदर्शन करना [मतानुज्ञा] 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान है।

वादी और प्रतिवादी दोनों में जो कोई-अपने पक्ष में विरोधी के द्वारा प्रकट कियेगये दोष का समाधान न कर-उसी दोष को अपने विरोधी के पक्ष में प्रसक्त करता है, वह वक्ता 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान में निगृहीत हुआ मानाजाता है। वादी-प्रतिवादी दोनों में से कोई एक जब दूसरे के कथन में दोष का उद्भावन करता है, और दूसरा अपने पक्ष में उस दोष का समाधान न कर उद्भावयिता के पक्ष में उसी दोष को प्रकट करता है, तो इसका तात्पर्य है कि उसने (दूसरे ने) अपने पक्ष में उस दोष को स्वीकार करलिया है। ऐसी दशा में वह निगृहीत मानाजायगा। यह 'मतानुज्ञा' निग्रहस्थान है; विरोधी के कथन को मानलेना ॥ २० ॥

पर्यनुयोज्योपेक्षण—'पर्यनुयोज्योपेक्षण' निग्रहस्थान का आचार्य सूत्रकार ने लक्षण बताया—

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम्॥ २१ ॥ (५२७)

[निग्रहस्थानप्राप्तस्य] निग्रहस्थान में आये हुए का [अनिग्रहः] निग्रहस्थान-प्राप्तिविषयक कथन न करना पर्यनुयोज्योपेक्षणम्] 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' निग्रहस्थान है।

वादी-प्रतिवादी दोनों में से कोई एक ऐसा प्रयोग करता है, जो किसी निग्रहस्थान की सीमा में आजाता है; उसके विरोधी वक्ता को चाहिये कि वह इस बात का निर्देश करे कि इस वक्ता ने अमुक निग्रहस्थान का प्रयोग किया है। निग्रहस्थान का प्रयोक्ता 'पर्यनुयोज्य' कहाजाता है, क्योंकि उसपर निग्रहस्थान के प्रयोग का अनुयोग (आरोप) लगाया गया है। यदि निग्रहस्थान का प्रयोग करनेवाले वक्ता (पर्यनुयोज्य) की विरोधी वक्ता द्वारा उपेक्षा करदी जाती है,

वह उसके प्रयुक्त निग्रहस्थान का निर्देश नहीं करता, तो वह स्वयं 'पर्यनुयोज्यो-पेक्षण' नामक निग्रहस्थान के अन्तर्गत आजाता है।

ऐसी स्थिति में वादी-प्रतिवादी दोनों निग्रहस्थान के दोष से ग्रस्त होते हैं। पहले वक्ता ने स्पष्ट किसी निग्रहस्थान का प्रयोग किया है। दूसरा वक्ता उसके निर्देश की उपेक्षा करदेने से प्रस्तुत निग्रहस्थान की सीमा में घिरजाता है। उसके लिए स्वयं अपने दोष का प्रकट करना सम्भव नहीं होता। अपनी कमी को स्वयं कौन उघाड़े ! पहला वक्ता भी दूसरे के विषय में यह नहीं कहसकता कि इसने मेरे द्वारा प्रयुक्त अमुक निग्रहस्थान को नहीं पकड़ा, उसका निर्देश नहीं किया, इसलिए यह 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' निग्रहस्थान से निगृहीत हुआ। क्योंकि ऐसा कहने से स्वयं उसके निग्रहस्थान-प्रयोग का भेद खुलता है। इसलिए कोई वक्ता स्वयं अपने दोष को प्रकट नहीं करेगा। ऐसी दशा में किसका पराजय हुआ, इसका निर्णय करना परिषत् अथवा मध्यस्थ का कार्य है। वस्तुतः प्रस्तुत निग्रहस्थान के अवसर पर वादी-प्रतिवादी दोनों दोषग्रस्त होते हैं। परन्तु प्रथम वक्ता द्वारा प्रयुक्त निग्रहस्थान की उपेक्षा करनेवाला द्वितीय वक्ता–चाहे वह वादी हो अथवा प्रतिवादी–प्रस्तुत निग्रहस्थान से निगृहीत समझना चाहिये ॥ २१ ॥

निरनुयोज्यानुयोग—अब क्रमप्राप्त 'निरनुयोज्यानुयोग' निग्रहस्थान का लक्षण आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो
निरनुयोज्यानुयोगः ॥ २२ ॥ (५२८)

[अनिग्रहस्थाने] अनिग्रह की स्थिति में [निग्रहस्थानाभियोगः] निग्रह-स्थान का अभियोग लगाना [निरनुयोज्यानुयोगः] निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान है।

चालू चर्चा में जब कोई वक्ता अपने विरोधी पर यह अभियोग लगाता है कि आपने निग्रहस्थान का प्रयोग किया है, पर वस्तुस्थिति में उसने निग्रहस्थान का प्रयोग नहीं किया होता, तो उस दशा में मिथ्या अभियोग लगानेवाला वक्ता स्वयं निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान से निगृहीत मानाजाता है ॥ २२ ॥

अपसिद्धान्त—क्रमप्राप्त 'अपसिद्धान्त' का लक्षण सूत्रकार ने किया—

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्
कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः ॥ २३ ॥ (५२९)

[सिद्धान्तम्] सिद्धान्त को [अभ्युपेत्य] स्वीकार कर [अनियमात्] अनियम से [कथाप्रसङ्गः] कथा को चलाना [अपसिद्धान्तः] अपसिद्धान्त निग्रह-स्थान है।

कथा के समय किसी एक सिद्धान्त को स्वीकार कर यदि कोई वक्ता उसके विपरीत कथन करता है, तो वह 'अपसिद्धान्त' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत मानाजाता है। जैसे एक वक्ता कहता है—सत् पदार्थ कभी स्वरूप को छोड़ता नहीं, अर्थात् सत् का विनाश नहीं होता। इसीप्रकार जो असत् है, वह आत्मलाभ नहीं करता, अर्थात् असत् कभी उत्पन्न नहीं होता। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर अपने पक्ष की स्थापना करता है यह समस्त व्यक्त जगत् एक प्रकृति (उपादान-तत्त्व का) विकार है, क्योंकि विकारों का अपने उपादान तत्त्व के साथ समन्वय देखाजाता है। जैसे मिट्टी के विकार घड़ा, शकोरा आदि मृद्धर्म से अन्वित रहते हैं। घट आदि विकारों में उनके उपादान-तत्त्व की मृद्रूपता बराबर बनी रहती है। इसीप्रकार यह समस्त व्यक्त विश्व सुख-दुःख-मोह से अन्वित देखाजाता है; यह अन्वयी धर्म उपादानरूप होने से विश्व के सुख-दुःख-मोहात्मक उपादानतत्त्व का निश्चय कराता है। उसीको 'प्रकृति' अथवा 'प्रधान' नाम से कहाजाता है।

उक्त प्रकार से पक्ष की स्थापना कियेजाने पर वक्ता से पूछाजाता है—यह प्रकृति है, और यह इसका विकार है, इसको कैसे पहचानाजाता है ? वक्ता उत्तर देता है, उनका पहचानना स्पष्ट है—जो अन्वयी धर्मी अवस्थित रहता है, जहाँ कतिपय धर्मों का तिरोभाव होकर अन्य धर्म उभर आते हैं, वह उपादान-तत्त्व 'प्रकृति' है; तथा जो धर्म उभर आते हैं, वह 'विकार' है। जैसे ठोस गोल मृत्पिण्ड 'प्रकृति' है; वह आकार तिरोहित होकर गोल, पोल, शंख के समान गर्दन वाले खुले मुँह के आकारवाला घट उभर आता है, वह विकार है।

इस उत्तर पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से स्पष्ट होजाता है—वक्ता ने अपने प्रथम स्वीकृत सिद्धान्त को छोड़कर उससे विपरीत मान्यता को स्थापित किया है। वक्ता ने पहले यह सिद्धान्त स्वीकार किया—असत् का आविर्भाव नहीं होता और सत् का तिरोभाव नहीं होता। परन्तु प्रकृति-विकार का अन्तर (पहचान) बतलाते समय वक्ता ने कहा—मृत्पिण्ड का गोल-ठोस सत् आकार तिरोहित होजाता है; जो आकार अभीतक नहीं था, अर्थात् जो अभीतक असत् था, वह आकार घटरूप में आविर्भूत होजाता है। तब सत् और असत् के यथाक्रम तिरोभाव एवं आविर्भाव के विना किसी उपादान-तत्त्व में विकार के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं होसकती। इसलिए जहाँ उपादान और विकार का अस्तित्व है, वहाँ सत् का तिरोभाव और असत् का आविर्भाव आवश्यक है। ऐसी स्थिति में वक्ता अपने पूर्वस्वीकृत सिद्धान्त के विपरीत पक्ष की स्थापना से 'अपसिद्धान्त' निग्रहस्थान के प्रयोग का दोषी ठहरता है।

यदि कहाजाय—उपादान तत्त्व मृत् के अवस्थित रहते हुए—घटादिरूप धर्मान्तर उत्पन्न होगा, यह 'प्रवृत्ति' है, तथा—घट उत्पन्न हुआ था, यह प्रवृत्ति

का उपरम अर्थात् निवृत्ति है। तात्पर्य है--उपादानतत्त्व की प्रवृत्ति-निवृत्ति; अथवा विकार का आविर्भाव-तिरोभाव; यह सब विकार के लिए 'प्रकृति' की प्रक्रिया का स्वरूप है; प्रकृति-तत्त्व प्रत्येक दशा में अवस्थित रहता है। फिर भी वक्ता से पूछाजासकता है--मृत् के अवस्थित रहने के समान पिण्ड अथवा घट के धर्म आकार को भी अवस्थित मानना चाहिये। आकार भी आविर्भूत व तिरोभूत न हों। क्योंकि ऐसा होने से भी सत् का तिरोभाव और असत् का आविर्भाव मानना पड़ता है। यदि वह आकार के आविर्भाव-तिरोभाव को मानता है, तो असत् के आविर्भाव और सत् के तिरोभाव को स्वीकार करलेता है, उससे नकार नहीं करसकता[1]। यदि आकार के तिरोभाव-आविर्भाव को नहीं मानता, तो उपादान-तत्त्व सदा अपनेरूप में पड़ा रहेगा; वहाँ कोई विकार सम्भव नहीं होसकता। ऐसी दशा में वक्ता का स्थापनीय पक्ष--यह समस्त व्यक्त विश्व एक प्रकृति का विकार है--असिद्ध होजाता है। वक्ता की उक्त मान्यताओं में वह अपने-आपको 'अपसिद्धान्त' निग्रहस्थान से बचा नहीं सकता ॥ २३ ॥

हेत्वाभास-निग्रहस्थान--क्रमप्राप्त हेत्वाभासरूप निग्रहस्थान के विषय में आचार्य सूत्रकार ने बताया--

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ॥ २४ ॥ (५३०)

[हेत्वाभासाः] सब हेत्वाभास [च] तथा (अथवा-भी) [यथोक्ताः] जैसे कहेगये हैं (उसीरूप में निग्रहस्थान हैं)।

प्रथम अध्याय के द्वितीय आह्निक [४-९ सूत्र] में हेत्वाभासों का निरूपण कियागया है। वहाँ जिसरूप में इनका विवरण प्रस्तुत है, उसीरूप में वे निग्रह-स्थान मानेजाते हैं। उनके निग्रहस्थान मानेजाने के लिये हेत्वाभास-लक्षण के अतिरिक्त अन्य किसी लक्षण अथवा स्वरूप के विवरण की आवश्यकता नहीं है।

---

१. ऐसा विवेचन इसी आह्निक के छठे सूत्र की व्याख्या में 'हेत्वन्तर' निग्रह-स्थान के प्रसङ्ग से प्रस्तुत कियागया है।
चालू प्रसंग में उक्त सिद्धान्त के अनुसार यह जानलेना चाहिये--सत् का विनाश अथवा तिरोभाव, और असत् का उत्पाद अथवा आविर्भाव न होने की व्यवस्था 'सद्वस्तु' के विषय में मानीजाती है। आकार कोई 'वस्तु सत् तत्त्व' नहीं है। उसके आविर्भाव-तिरोभाव होते हैं, तो होतेरहें। इससे 'वस्तु-सत् तत्त्व' के विनाश तथा असत् के उत्पाद को सिद्ध नहीं कियाजासकता। इस विवेचन का आधार 'सत्कार्यवाद-असत्कार्यवाद' की मान्यता है। इसका उपयुक्त व संक्षिप्त विवेचन [४।१।४८-५०] सूत्रों की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

इस शास्त्र में प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का प्रथम नाममात्र से कथन कियागया है; अनन्तर उन सब पदार्थों के लक्षण एवं विस्तार के साथ ऊहापोह-पूर्वक परीक्षा कीगई है। इसप्रकार अपने विषय के उपपादन में यह पूर्णशास्त्र है।

इस शास्त्र के रचयिता ऋषि मेधातिथि गौतम हैं। इसका नाम 'न्यायदर्शन' है। इस पर अभीतक उपलब्ध सबसे प्राचीन भाष्य वात्स्यायन मुनि का है। इनका यथोपलब्ध विस्तृत इतिहास अन्यत्र प्रस्तुत करने का संकल्प है॥ २४॥

नभोगुणव्योमनेत्रमिते वैक्रमवत्सरे,
आश्विनाऽसितपक्षस्य तृतीयस्यां तिथौ तथा।
प्रभोर्गुरुचरणानां कृपया शनिवासरे,
विदुषां सन्तोषकरो ग्रन्थः पूर्त्तिमगादयम्॥

इति श्रीपूर्णसिंहतनुजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत,
'छाता' नगरनिवासिश्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्ध-
विद्योदयेन, बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत-**बनैल**-ग्राम-
वास्तव्येन, विद्यावाचस्पतिना–**उदयवीरशास्त्रिणा**
समुन्नीते गौतमीयन्यायदर्शनविद्योदयभाष्ये
पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

सम्पूर्णश्चायं ग्रन्थः।

सूत्र-सूची
(अकारादिक्रमानुसार)

पृष्ठ

अ

ब

उद्धृत-सन्दर्भ-सूची

(अकारादिक्रमानुसार)

विषय-निर्देशिका

(अकारादिक्रमानुसार)

पृष्ठ